

# भूमिका

१. योगदर्शन का स्वरूप ,परम्परा, परिचय एवं पातंजल योग का वैशिष्ट्य एवं लोकप्रियता
२. योग दर्शन का साहित्य एवं उनका संक्षिप्त परिचय
३. योग दर्शन के सिद्धान्तों का सामान्य परिचय
४. योग मनोविज्ञान

## भूमिका

### योगदर्शन का स्वरूप एवं उसकी परम्परा

---

भारतीय परम्परा में योग को बहुविधि प्रकार से जाना और समझा गया है। भारतीयों के लिए योग की संस्कृति मानव जीवन की तरह ही विस्तृत है। आधुनिक युग में योग का जिस प्रकार से उपयोग और उपभोग किया जा रहा है, वह योग का वास्तविक स्वरूप अर्थ और उद्देश्य नहीं है और न ही हम उस प्रकार से योग के वास्तविक महत्व को समझ सकते हैं। वस्तुतः योग के नाम पर वर्तमान में जो कुछ भी किया जा रहा है वह केवल शारीरिक या मानसिक व्यायाम मात्र है। इसके द्वारा जो कुछ भी उपलब्ध कराने का प्रयास किया जाता है वह भी वर्तमान में मात्र एक शारीरिक, प्राणिक और मानसिक आवश्यकता की पूर्ति ही अधिक है। इस रूप में हम योग को समझकर न केवल उसके स्वरूप, अर्थ, उद्देश्य और महत्व को सीमित कर देते हैं, बल्कि उसे एक सीमा तक विकृत भी बना देते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि योग का कोई लौकिक पक्ष नहीं है या योग केवल आध्यात्मिक साधन मात्र है। योग मानव जीवन की भाँति विस्तृत है, इस अर्थ में योग मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित है।

जब हम योग के विषय में चर्चा करते हैं तब हमें दो सावधानियाँ रखनी पड़ती हैं। एक तो यह कि कहीं हम योग को भौतिक और व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से एक उपभोग्य वस्तु मात्र ही न बना दें और दूसरी यह कि व्याख्याओं के घटाटोप में योग को एक अत्यन्त दुस्तर असामान्य और गुह्य विषय बनाकर उसे नितान्त अव्यवहार्य ही न बना दें। सामान्यतया योग का सीमित परिचय रखने वाले व्यक्तियों के द्वारा या योग की प्रारम्भिक जिज्ञासाओं से सन्तुष्ट हो जाने वाले अध्येताओं के द्वारा ऐसी भूलें करने की आशंका रहती है। अतः यह समझने की चेष्टा करनी है कि योग न तो वर्तमान

उपभोक्ता संस्कृति की एक देन है और न ही यह पारम्परिक अर्थों में एक ऐसा गुह्य-विज्ञान है, जिसमें सबके लिए प्रवेश वर्जित है।

योग मानव आत्मा का मूल स्वरूप है। मानव आत्मा न केवल योग चेतना की प्राप्ति की दिशा में गतिशील है, बल्कि यह सम्पूर्ण प्रकृति एक अवचेतन योग कर रही हैं। इस दृष्टि से जब हम योग को समझने की चेष्टा करते हैं, तब योग के स्वरूप, अर्थ, उद्देश्य और महत्व का जो फलक प्राप्त होता है, वह योग को मानव जीवन से लेकर प्रकृति तक विस्तृत बना देता है। योग मानव-जीवन और प्रकृति में अभिव्यक्त और अभिव्यक्ति दोनों रूपों में विद्यमान है। प्रकृति ने जो कुछ अभिव्यक्त किया है और मानव प्रतिभाओं ने जो कुछ प्राप्त किया है वह सभी कुछ योग का ही अभिव्यक्त परिणाम है। इसके अतिरिक्त विकसनशील प्रकृति के गर्भ में जो कुछ भी अन्तर्निहित है और परिपाक के फलस्वरूप प्रकट होने की तैयारी कर रहा है, वह तथा मानव प्रतिभाओं के अन्दर प्रसुप्त शक्तियों के रूप में जो कुछ भी अभी जागृत नहीं हुआ है, वह सब योग के प्रभाव के अन्तर्गत है। इस ओर संकेत करते हुये कठोपनिषद् में भी यह कहा गया है कि भगवत् सत्ता ने योग के द्वारा इस सृष्टि की रचना की है और योग के द्वारा ही वह इसे दुबारा अपने अन्दर समेट लेंगे। योग ही वस्तुओं का जन्म और उसकी मृत्यु है।<sup>1</sup> मानव जीवन में योग समस्त दर्शन, काव्य प्रतिभापूर्ण कृतियों और सम्पूर्ण धर्म की अभिव्यक्ति का आधार है। सभी भारतीय दार्शनिकों ने अत्मोन्नति के साधन के रूप में योग की महत्ता को माना है। हमें वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण सभी में योगाभ्यास का वर्णन मिलता है।<sup>2</sup>

भारतीय संस्कृति तथा परम्परा में योग-साधना का असाधारण महत्व है। योग की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यह इतनी प्राचीन है कि इसके प्रारम्भिक चिन्तन के इतिहास को खोज पाना प्रायः असम्भव है और इसी कारण यदि इसे अनादि कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी फिर भी यहाँ हम इसके मूल आधार पर अध्ययन करें तो पायेंगे कि योग की परम्परा आर्य जातियों की अत्यन्त पुरानी

साधना प्रणाली है। भारत में योग—विषयक चिन्तन और उसकी साधना की अनेकों धारायें प्रचलित रही हैं, क्योंकि योग—ग्रन्थों में हमें अनेक प्रकार की योग—प्रणालियों तथा धाराओं का वर्णन मिलता है। प्रत्येक धर्म के जिज्ञासु तथा साधकों ने योग की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है तथा उसी का सहारा लेकर साधकों को साधना की प्रेरणा दी। अध्यात्म जगत् में योग का स्थान उस केन्द्र की तरह है जहां सम्पूर्ण दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदाय समान रूप से आकर मिलते हैं।

शिवयोग, महेश्वर योग अथवा पाशुपत योग को सबसे प्राचीन योग माना गया है। हड़प्पा—मोहनजोदड़ों के अवशेषों में पशुपति की योग मुद्रा में प्राप्त मूर्ति इसका प्रमाण है सिन्धु कालीन सभ्यता के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि मोहन—जोदड़ों में जो अवशेष प्राप्त हुये हैं, उनमें केवल माँ भगवती की मूर्तियाँ ही नहीं हैं, बल्कि एक नर देवता की मूर्ति भी है। जो ऐतिहासिक शिव का आदि रूप है। सर "जान मार्शल" ने अपने पुस्तक "मोहनजोदड़ों एण्ड द इण्डस सिविलिजेशन" में स्पष्ट रूप से बताया है कि मोहन—जोदड़ों में प्राप्त नरमूर्ति त्रिमुखी है। वह देवता एक ऊँचे आसन पर योग की मुद्रा में बैठा है, उसके पैर मुड़े हैं तथा एड़ी से एड़ी मिली है, अँगूठे नीचे की तरफ हैं एवं हाथ घुटने के ऊपर आगे की ओर फैले हैं।<sup>3</sup>

इन बातों से यही प्रतीत होता है कि योग—सम्बन्धी विचार उस समय किसी न किसी रूप में अवश्य ही रहा होगा। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने सैन्धव सभ्यता को वैदिक पूर्व माना है तथा योग विद्या का उदय भी सैन्धव सभ्यता से ही माना है, लेकिन आधुनिक शोधों से यह मालूम होता है कि सिन्धु सभ्यता, वैदिक सभ्यता के पश्चात् होने वाली वैदिक मूलक सभ्यता है। यह सभ्यता मिश्रित संस्कृति से युक्त है जो कि भारतीय संस्कृति की एक विशेषता है। लेकिन इसको विदेशी विद्वानों ने आर्य एवं द्रविड़ जाति तथा आर्य एवं अनार्य में विभाजित कर

दिया। इसी को श्रीअरविन्द ने सुन्दर शब्दों में स्पष्टीकरण किया है— “आर्यों एवं अनार्यों के बीच का भेद जिस पर इतना सब कुछ निर्भर हैं, अनेक प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि कोई जातीय भेद नहीं अपितु सांस्कृतिक भेद था।<sup>4</sup>

सिन्धु प्रदेश के ध्वंसावशेषों से यह संकेत मिलता है कि इसवी सन् से 3000 वर्ष पहले तथा उससे भी पहले भारतवर्ष में योग का किसी न किसी रूप में प्रचार अवश्य था। इन प्राप्त ध्वंसावशेषों में कुछ टूटी हुई मूर्तियाँ भी हैं, जिनका मस्तक, ग्रीवा और धड़ बिल्कुल सीधा है और जिनके अर्ध निमीलित नेत्र नासिका के अग्रभाग पर स्थिर है” और योगाभ्यास करते समय बैठने वालों के इसी ढंग से वर्णन मिलता है।<sup>5</sup>

वायुपुराण में पाशुपतयोग विषयक अध्यायों में इसका वर्णन है। इस तरह से हम देखते हैं कि प्रागैतिहासिक युग तथा ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ में सिन्धु प्रदेश में रहने वाले योगियों के योग साधना ही पाशुपत योग है। वायु पुराण में वर्णित है कि शिव योग का अभ्यास करने वाले को छाती तानकर बैठना चाहिये, उन्हें अपने मस्तक और ग्रीवा को सीधा रखना चाहिए और अपनी आंखों को अर्धनिमीलित करके नजर को नाक के आगे वाले भाग पर स्थिर करना चाहिए।<sup>6</sup> इससे योग-परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। वायु पुराण के तीन अध्यायों (11, 14 और 15) में हमें पाशुपत योग की साधना का वर्णन मिलता है। इसमें अष्टांगयोग का भी वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त भी कई ऐसे अध्याय हैं जो योग के अध्ययन की दृष्टि से सहायक हैं।<sup>7</sup> यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये अष्टांग योग हैं। पाशुपत योग में हठयोग का भी वर्णन है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि हड़प्पा में प्राप्त भग्नमूर्तियों के रूप में हमें योग के प्रमाण मिलते हैं। ये मूर्तियाँ पाशुपत योग की ही मुद्रा में हैं। भारतीय परम्परा में शिवपूजा को सबसे प्राचीन माना गया है। इसलिये पाशुपतयोग की परम्परा को सबसे प्राचीन योग की परम्परा माना जा सकता है। प्राणायाम का

यथाविध अभ्यास ही इस योग का स्वरूप है। पाशुपत-योग का आरम्भ प्राणायाम के आधार पर ही हुआ और समय के साथ इसका विस्तार होता गया।

योग के प्रथम वक्ता हिरण्यगर्भ को भी योग की प्राचीनता के सन्दर्भ में उद्धृत किया जाता है। योगसूत्र के समस्त भाष्यकारों ने एक स्वर से यह स्वीकार किया है कि पतंजलि के योगदर्शन का विकास हिरण्यगर्भ से ही हुआ है।<sup>8</sup> यह हिरण्यगर्भ कौन है ? इस पर अनेक मतभेद हैं। हिरण्यगर्भ नामक किसी ऐतिहासिक मनुष्य का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। अतः हिरण्यगर्भ रूप में ब्रह्मा का अभिधान किया गया है, जिनके माध्यम से ऋषि-मुनियों को योग की शिक्षा मिली। उन्हें ही योग का प्राचीन वक्ता कहा गया है। हिरण्यगर्भ का ब्रह्मा रूप वेदों में उल्लिखित है।<sup>9</sup> श्रीमद्भागवत में भी हिरण्यगर्भ को ही प्राचीन यौगिक पुरुष माना गया है और इसी अभिप्राय की पुष्टि की गयी है।<sup>10</sup>

सृष्टि के आदिकाल में भगवान् हिरण्यगर्भ ने सनकादिक वं विवस्वान को परमात्म साक्षात्कार रूप एक ही सनातन योग का उपदेश दिया। यह सनातन योग अधिकारी भेद के कारण ब्रह्मयोग अथवा राजयोग एवं कर्मयोग इन दो शाखाओं में विख्यात हुआ।<sup>11</sup> ब्रह्मयोग को ही बाद में सांख्ययोग, ज्ञानयोग, अध्यात्मयोग आदि नामों से जाना गया। इसी तरह से इसकी दूसरी शाखा कर्मयोग की परम्परा में, संसार के कार्यों को पूरा करते हुये परमात्मसाधनवाले विवस्वान, मनु, इक्ष्वाक् व अन्य राजर्षि हुये। इससे यह माना गया कि मनुष्य कर्मों का सर्वथा त्याग न करते हुये, कर्मों को ईश्वर में समर्पण करके कर्मफलों में आबद्ध न होकर परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। इसका उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् में किया गया है।<sup>12</sup>

इसी शाखा के बारे में भगवान् कृष्ण ने यह कहा है कि यह योग विद्या नवीन नहीं है, बल्कि बहुत पहले से चली आ रही हैं। अतः योग विद्या सनातन विद्या ही है।<sup>13</sup>

वेद भारतीय संस्कृति के मूल आधार हैं। जितने भी दर्शन, स्मृतियाँ, पुराण

आदि की रचना हुई हैं, सब वेदों के मन्तव्य को लेकर ही अग्रसर हुये हैं तथा वेद ही सभी के लिये प्रामाणिक सिद्ध हुआ है। इसलिये योग का विषय भी वेद के बाहर का नहीं है और हम बड़ी स्पष्टता के साथ योग के मूलस्वरूप को वेदों में देख सकते हैं। संहिता में योग का उल्लेख स्पष्ट रूप से तथा अनेक स्थलों पर किया गया है। ऋग्वेद के ऋषि योग की महत्ता को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि विद्वानों का कोई भी यज्ञकर्म, बिना योग के, सिद्ध नहीं होता।<sup>14</sup> योग के अभ्यास के द्वारा हमें जो विवेक या बुद्धि प्राप्त होती है वह ईश्वर की ही अनुकम्पा से होती है— ऐसा वर्णन हमें वेदों में देखने को मिलता है।<sup>15</sup> इसी तरह से योग की सिद्धि के लिये ईश्वर से की जानेवाली प्रार्थना के मंत्र का वर्णन भी वेद में किया गया है।<sup>16</sup> वेदों में योग को सब कर्मों के, अर्थात् यज्ञों आदि के पूर्व करने के लिये भी साधन स्वरूप माना गया है। इस तरह हम देखते हैं कि वेद में योग (समाधि) के लिये ईश्वर की कृपा को बहुत आवश्यक माना गया है। वेदों में योग को सभी धर्मों का साधन बताया गया है। यज्ञ, तप और दान तीन तरह के धर्म हैं। इनमें यज्ञ सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। त्रिविधयज्ञ (कर्म यज्ञ, उपासना यज्ञ, ज्ञानयज्ञ) की उत्पत्ति भी योग पर ही आधारित है। कर्मयज्ञ में एकाग्रता की विशेष आवश्यकता पड़ती है तथा एकाग्रता तभी सम्भव है जब हम योग का पालन करें।

इसी तरह उपासना यज्ञ के विषय में भी बताया गया है। जिस प्रकार शरीर में बिना शरीरी आत्मा के कोई भी योग सिद्ध नहीं होता उसी प्रकार से बिना योग के उपासना का भी कोई अंग सम्पन्न नहीं हो सकता। इसी तरह ज्ञान यज्ञ भी है जो बिना योग के कोई भी आत्मलाभ कराने में असमर्थ होता है। श्रवण—मनन के समान निदिध्यासन को आत्मसाक्षात्कार का साधन बताया गया है।<sup>17</sup> बिना योग के कोई भी यज्ञ विशेष कर ज्ञानयज्ञ सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योग या एकाग्रता से ही सभी कार्य सम्पन्न हो सकते हैं। वेदों में अनेक स्थानों पर हमें यम—नियम तथा सत्यादि की शिक्षा दी

गयी हैं। अथर्ववेद में “वायावदामिमधुयत”<sup>18</sup> द्वारा सत्य एवं मधुर वाणी के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में अनेक मंत्रों में ब्रह्मचर्य द्वारा परमात्मा के प्रकटीकरण का कथन है।<sup>19</sup> ऋग्वेद में सत्य—अहिंसा का निरूपण है।<sup>20</sup>

यजुर्वेद में ईश्वर प्राणिधान तथा व्रत का उल्लेख मिलता है।<sup>21</sup> स्वामी दयानन्द सरस्वती ने व्रत को यम माना है तथा उसका अर्थ स्पष्ट किया है।<sup>22</sup> यजुर्वेद में ही प्राणायाम का भी उल्लेख मिलता है।

योग का जो रूप हमें वेद तथा ब्राह्मणों में देखने को मिलता है, उसका व्यवस्थित, स्पष्ट तथा दार्शनिक रूप हमें उपनिषदों में देखने को मिलता है। उपनिषदों में सर्वत्र योग ही की शिक्षा का समावेश है। योग शब्द मनोनिरोध वाचक है और इसके बिना ज्ञान, भक्ति और नित्य के सत्कर्म सम्भव नहीं है। अतः उपनिषदों में योग शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में किया गया है। “छान्दोग्य; और “वृहदारण्यक” उपनिषद् के द्वारा हमें योग का ठोस आधार प्राप्त होता है। “वृहदारण्यक” में अरुणी के प्रश्न का समाधान करते समय याज्ञवल्क्य मूलभूत तत्त्व के रूप में वायु का उल्लेख करते हैं।<sup>23</sup> उपनिषदों में ऐसा भी वर्णन मिलता है कि अपने अन्तर्जगत में ज्ञान हम मन के संयम के द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं।<sup>24</sup> इस तरह का उल्लेख भी मिलता है कि पिप्पलाद ऋषि के पास ज्ञान की इच्छा से आये सुकेशा, भारद्वाज, सत्यकाम आदि ऋषियों को वे तप, श्रद्धा एवं ब्रह्मचर्य से युक्त होकर एक साल निवास करने का आदेश देते थे। इसके बाद ही वे आत्मज्ञान का अधिकारी होते थे।<sup>25</sup> इसी तरह से निदिध्यासन के विषय में याज्ञवल्क्य ने प्रिय मैत्री को भी बताया है।<sup>26</sup> इन प्राचीन उपनिषदों में यद्यपि हमें आसन और प्राणायाम के किसी विशिष्ट प्रकार का वर्णन नहीं मिलता है, फिर भी उनमें यम, नियम एवं क्रियायोग तथा प्राण और नाड़ियों का विवेचन विस्तृत रूप से किया गया है। इसी तरह से हमें श्वेताश्वतरोपनिषद् के द्वितीय अध्याय में यौगिक क्रियाओं का वर्णन मिलता है।<sup>27</sup>

श्रुतियों में योग का स्पष्ट निर्देश दिया गया है।<sup>28</sup> तैत्तिरीय उपनिषद्

भृगुवल्ली में ब्रह्मसाक्षात्कार के एक साधन के रूप में तप का उल्लेख मिलता है।<sup>29</sup> उपनिषद् काल के कठोपनिषद् में योग शब्द अपने पारिभाषिक अर्थ में पाया गया है। इसमें नचिकेता को यम ने यह बात स्पष्ट रूप से बतायी है कि आत्मसाक्षात्कार के लिए आत्मध्यान (अध्यात्मयोग) एक आवश्यक साधन है।<sup>30</sup> कठोपनिषद् में प्राणायाम का भी अप्रत्यक्ष ढंग से उल्लेख किया गया है। वाणी कों मन में, मन को बुद्धि में, बुद्धि को जागतिक बुद्धि में तथा उसको आत्मा में लीन करने की प्रक्रिया के द्वारा ही योग सम्भव बताया गया है।<sup>31</sup> इसी तरह से बताया गया है कि रहस्यात्मक अनुभव के लिये सत्य, तप, ब्रह्मचर्य का उपयोग करना चाहिए। कठोपनिषद् में तीन रात्रियों का भी वर्णन मिलता है जिसका अर्थ है— आत्मिक, दैविक एवं भौतिक अज्ञान। ब्रह्मविद्या के द्वारा ही इस अज्ञानता से मुक्ति संभव है। श्वेताश्वतरोपनिषद् योग की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें बताया गया है कि ध्यान के माध्यम से ऋषि ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति को जानते थे।<sup>32</sup> इस उपनिषद् के द्वारा ध्यान के आसनों का पता चलता है। एवं आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम का भी विवेचन मिलता है।<sup>33</sup>

योग, ब्रह्म ध्यानयोग, प्रणवोपासना, ज्ञानयोग तथा चित्त की चारों अवस्थाओं आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। अतः हम देखते हैं कि औपनिषदिक योग न केवल महत्वपूर्ण है, बल्कि उपनिषदों से योग का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस दृष्टि से योग का मुख्य आधार औपनिषदिक योग को समझा जा सकता है।

योग की परम्परा वेद—उपनिषदों के बाद पुराणों के अन्तर्गत अभिव्यक्त हुई है। पुराण भारतीय संस्कृति और मूल्यों की नानाविध प्रकार से चर्चा करते हैं। इनमें आख्यान प्रायः प्रतीकात्मक है। योग की चर्चा इनमें सर्वत्र दिखायी देती है। यौगिक क्रियाओं का विस्तार पूर्वक वर्णन हमें पुराणों में अनेक स्थानों पर मिलता है। शिव से सम्बन्धित अनेक पुराण (शिव, वायु, ब्रह्माण्ड, स्कन्द आदि) में आधा से अधिक स्थान यौगिक क्रियाओं से सम्बद्ध है। योग की चर्चा हमें श्रीमद्भागवत में अनेक स्थानों पर मिलती है। योग साधना की व्याख्या ऋषि—मुनियों

के चरित्र में द्रष्टव्य है। इस तरह का वर्णन भी मिलता है कि वृत्र ने मृत्यु के समय भगवान् के चरण-कमलों में ध्यान लगाकर समाधि द्वारा अपने प्राण को त्यागा था।<sup>34</sup> इसी तरह से महर्षि दधीचि का भी उल्लेख मिलता है कि उन्होंने इन्द्र के द्वारा हड्डी मांगने पर प्राण, मन, बुद्धि का नियमन करके योग का सहारा लिया था, जिससे प्राणान्त के समय उन्हें शरीर त्याग का आभास न हो।<sup>35</sup>

पुराणों के अन्दर भागवतपुराण, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण और वायुपुराण में योग की विशेष रूप से व्याख्या की गयी है। पन्द्रहवें अध्याय में हमें छत्तीस श्लोकों के अन्दर अष्टसिद्धियों का वर्णन मिलता है। इसी तरह कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग के साधनों का वर्णन बीसवें अध्याय के सैंतीस श्लोकों के अन्दर किया गया है तथा क्रियायोग का सविस्तार निरूपण सत्ताइसवें अध्याय के पचपन श्लोकों के अन्दर किया गया है।<sup>36</sup> ब्रह्मप्राप्ति के लिये योग के आठो अंगों को पुराणों में आवश्यक माना गया है। वायुपुराण में पाशुपत योग और योग के द्वारा प्राप्त होने वाले ऐश्वर्य का वर्णन है।<sup>37</sup> योग का वर्णन केवल कुछ पुराणों तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसका वर्णन लगभग सभी पुराणों में कमोवेश रूप में विद्यमान है। कठोर तपश्चर्या को वर्णन पुराणों में मिलता है।<sup>38</sup> अष्टांग योग की सभी विधियों का वर्णन विस्तारपूर्वक एकाध पुराणों में किया गया है। श्रीमद्भागवतपुराण जिसको समस्त पुराणों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है, उसमें योग का विषय अनेक स्थानों पर मिलता है। भागवत में भक्ति के साथ-साथ अष्टांग योग का वर्णन दो प्रकार से किया गया है। कई स्थानों पर योग साधन की क्रियाओं का अप्रत्यक्ष रूप से संकेत किया गया है तथा कई एक जगहों पर योग का प्रत्यक्ष रूप भी देखने को मिलता है। योग का सम्बन्ध प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से भागवत के प्रत्येक स्कन्ध में भी कई बार देखने को मिलते हैं।<sup>39</sup> अनेक स्थानों पर "मनप्राणिधान"<sup>40</sup> अर्थात् अपने मन का निग्रह करके योगी स्वाध्याय, शौच, सन्तोष तथा तप करें।

इस तरह के पारिभाषिक शब्द का उल्लेख मिलता है। इसी तरह से आसन का भी उल्लेख करते हुये बताया गया है कि भगवान् में मन लगा कर भक्तिपूर्वक ध्यान धरने से भगवान् का साक्षात्कार होता है।<sup>41</sup> योग क्रिया द्वारा शरीर त्यागने का वर्णन आया है। कपिल मुनि की माता का समाधि के द्वारा देह-त्याग का वर्णन भी आया है। चतुर्थ स्कन्द में सती के योगाग्नि द्वारा भस्म होने का ध्रुव को आसन, प्राणायाम द्वारा मल को दूर कर एकाग्रचित्त से भगवान् में ध्यान का उपदेश और समाधि आदि का वर्णन भी देखने को मिलता है। अष्टांग योग का वर्णन पुराणों में एक ही नहीं कई स्थलों पर है। भागवत में अष्टांग योग एक स्वतंत्र साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। श्रीमद्भागवत में यम और नियम का निरूपण इस तरह से किया गया है कि अपने मन को (आत्मचिन्तन) समर्थ बनाते हुये निष्काम भाव से योगी ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का सेवन करें। श्रीमद्भागवत में यम नियम के लिये योगी मन का निग्रह करके स्वाध्याय, शौच, सन्तोष तथा तप का विधान करे तथा ईश्वर प्राविधान करें। यम नियम के बारह-बारह भेद किये गये हैं। जबकि पातंजल योग दर्शन तथा आग्नेयपुराण में केवल पांच-पांच भेद हैं। स्कन्दपुराण में दस-दस यम-नियम का वर्णन है। इसी तरह से विष्णु पुराण में यम-नियम का निरूपण किया गया है।<sup>42</sup>

योग के अन्य छः अंगों में भी थोड़ा बहुत परिवर्तन मिलता है। आसन के बारे में भागवतपुराण में कई विधि बतलायी गयी है तथा किस तरह बैठे इसका भी निर्देश दिया गया है। तीसरे स्कन्द में भी आसन का निर्देश इस तरह किया गया है। प्राणायाम के बारे में बताया गया है कि पूरक, कुम्भक तथा रेचक के द्वारा हम प्राण के मार्ग को शुद्ध कर सकते हैं। पुराणों में प्राणायाम दो प्रकार का बताया गया है। अगर्भ तथा सगर्भ। अगर्भ वह प्राणायाम है जिसमें जप ध्यान के बिना ही मात्रा के अनुसार प्राणायाम करते हैं तथा सगर्भ में जप-ध्यान अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। इन दोनों में सगर्भ को श्रेष्ठ कहा गया है। शिव पुराण में

इसकी व्याख्या की गयी है। प्रत्यक्ष रूप में प्रत्याहार का भी वर्णन देखने को मिलता है। प्रत्याहार के लिये निश्चय बुद्धि वाला मन ही सहायक है। इसी की सहायता से मनुष्य अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर एक स्थान पर रख सकता है तथा प्रत्याहार में सक्षम हो सकता है। भागवत में दो तरह की धारणा बतायी गयी हैं उन्हीं का वर्णन अन्य पुराणों में अन्य नामों से किया गया है। धारणा दो है— राज धारणा तथा अन्तर्याम धारणा। पुराणों में भगवान् का दो रूप माना गया है—मूर्त और अमूर्त जिसको स्थूल और सूक्ष्म नाम से भी जानते हैं। इस तरह का वर्णन मिलता है कि पहले भगवान् के विराट रूप में वैराज धारणा करना चाहिए तथा इसमें सफल होने पर अमूर्तरूपवाली अन्तर्याम धारणा करनी चाहिए।

अन्तर्याम धारणा का वर्णन पुराणों में कई स्थानों पर आया है यथा—दूसरे स्कन्द का दूसरा अध्याय, तीसरे का अट्ठारहवां तथा ग्यारहवें स्कन्ध का चौदहवाँ अध्याय। भागवत में ध्यान के बारे में बहुत कुछ कहा गया है। इसका वर्णन तीसरे स्कन्द के अट्ठाइसवें अध्याय में देखा जा सकता है। देहादि को चिरायु बनाने के लिये आने वाले योग अभ्यास का निषेध करते हुये कहा गया है कि कोई धीर इस देह को चिरायु करने के लिये विविध उपाय करता रहता है। परन्तु यह सारा व्यर्थ हो जाता है क्योंकि यह शरीर नाशवान् है। इसमें यह भी बताया गया है कि योग के साधना से काया आदि कल्पान्त तक भी जीवित रहे तो भी मत्परायण बुद्धिमान पुरुष को भगवद्योग छोड़कर इसमें कभी श्रद्धा नहीं करनी चाहिये। बिना भक्ति के योगविहित समाधि की निष्पत्ति नहीं हो सकती है। इस पुराण में भक्तियोग की सर्वोत्कृष्टता का वर्णन किया गया है कि ब्रह्म—प्राप्ति हेतु अखिल आत्मस्वरूप भगवान् में की गयी भक्ति के समान शिव कल्याणकारी पन्थ योगियों के लिये अन्य और कोई नहीं है। पुराण में नाडी, चक्र, कुण्डलिनी आदि का भी वर्णन किया गया है।

पुराण के योग को देखकर हम कह सकते हैं कि यह अष्टांग योग भक्ति

के साथ पूर्ण रूप से सम्बद्ध है। इसमें भक्तियोग को सर्वोत्कृष्ट बताया गया है। व्यास जी ने योग के बारे में स्पष्टतः कहा है कि इसका उद्देश्य कायाकल्प नहीं है, बल्कि इसका ध्येय भगवान में लीन होना है।

योग की परम्परा पुराणों के बाद सर्वाधिक शक्तिशाली रूप में तन्त्र के अन्दर अभिव्यक्त हुई है। तन्त्रशास्त्र भारत की एक प्राचीन और गूढ़ विद्या है। तन्त्र मनुष्य को पशुत्व को छोड़कर देवत्व में पहुंचने की शिक्षा देता है। तन्त्र मन को बलपूर्वक त्याग की तरफ नहीं, बल्कि मन की स्वाभाविक गति का मुख त्याग की तरफ मोड़ता है। इसलिये यह ज्यादा स्वाभाविक गति का मुख त्याग की तरफ मोड़ता है। इसलिये यह ज्यादा स्वाभाविक जान पड़ती है। अंतः इसे शारीरिक कर्तव्यों को पूरा करते हुये आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति करने का एक उच्चकोटि का साधन माना गया है। तन्त्र का संदर्भ वेद—उपनिषदों में भी मिलता है तथा महाभारत काल से लेकर बौद्ध काल तक भारत में साधना का विशेष प्रभाव देखा जा सकता है।<sup>43</sup> परन्तु कुछ समय पश्चात् इसका पहले वाला रूप नहीं रह गया। लोग इस शक्ति का दुरुपयोग करने लगे। इसे मारण, मोहन उच्चाटन, वशीकरण जैसे निकृष्ट और दूषित कार्यों का साधन समझ लिया गया। तन्त्र—ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर दो तरह का तन्त्र माना गया है। वेदानुकूल और वेदबाह्य। जो तन्त्र और उनके सिद्धान्त वेदानुकूल हैं वे वैदिक हैं और जो वेद बाह्य हैं वे अवैदिक हैं। वैदिक और अवैदिक तन्त्रों के विषय में कहा जाता है कि वैदिक तन्त्र वेदाधिकारियों के लिये है और अवैदिक तन्त्र वेद के अनाधिकारियों के लिये हैं।<sup>44</sup> इस तरह से वैदिक साधना और तान्त्रिक साधना के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तान्त्रिक आधार अत्यन्त रहस्यमय होने के कारण गुप्त रखे जाते थे। वैदिक साधना सबके लिये थी तथा तान्त्रिक साधना केवल कुछ चुने हुये लोगों के लिये ही थी। वैदिक साधना में केवल तीन वर्णों के साधकों (क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैश्य) का प्रवेश था, किन्तु तान्त्रिक में सभी वर्णों के साधक अपनी साधना के लिये अधिकारी होने के कारण प्रवेश कर सकते थे।<sup>45</sup>

तान्त्रिक योग के दो नाम हैं – कोल और वाम-मार्ग। कोल के अनुसार शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर एवं गाणपत्यादि मंत्रों के माध्यम से चित्त को विशुद्ध बनाकर कोल-ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।<sup>46</sup> कोल शब्द की व्याख्या तन्त्रशास्त्र में स्पष्ट रूप से विस्तार के साथ किया गया है। “कुल” शब्द शक्ति का वाचक है और “अकुल” शब्द से शिव का बोध होता है, कुल और अकुल के सम्बन्ध को कोल कहते हैं। इसी तरह से वाम-मार्ग की भी व्याख्या करते हुये यह कहा गया है कि जो दूसरे के द्रव्य के लिये अन्धा है, परस्त्री के लिये नपुंसक है, परनिन्दा के लिये गूँगा है और जो इन्द्रियों को सदा अपने वश में रखता है, वही वाममार्ग का अधिकारी है।<sup>47</sup> तान्त्रिक योग में कर्म त्याग की आवश्यकता नहीं होती केवल कर्मफल त्यागने की आवश्यकता होती है। योग साधन का उद्देश्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, मंद और मत्सर इन षट् रिपुओं का नाश करना होता है। ये षट् रिपुयें हैं—भोगादि की अभिलाषा, प्राणियों को पीड़ा पहुंचाना, धन की उच्च आकांक्षा, तत्त्वज्ञान का अभाव, “मैं” की भावना तथा दूसरे को सुखी देखकर दुःखी होना। इनके कारण ही आत्मज्ञान की प्राप्ति असम्भव होती है। इनको दूर करने के लिए योग के आठो अंगों का वर्णन मिलता है जिसमें यम-नियम के अन्तर्गत दस प्रकार आते हैं—अहिंसा—किसी कर्म के द्वारा अथवा मन के द्वारा किसी को क्लेश न पहुंचाना, सत्य—जैसा देखा—सुना हो वैसा ही कहना, अस्तेय—किसी का कोई चीज ग्रहण न करना, ब्रह्मचर्य—सभी तरह के मैथुन का त्याग करना, कृपा—प्रणी के दुःख दूर करने की चेष्टा, आर्जव—इसमें मन, वाणी और शरीर के द्वारा व्यवहार में कुटिलता न हो, क्षमा—अपकार करने वालों से मित्रवत् व्यवहार, धृति—दुश्चिन्ता का अभाव धृति है, मिताहार होना तथा शौच—अर्थात् पवित्रता ये दस यम हैं। इसी तरह से नियम भी दस हैं तप—इसे व्रतों के आचरण का नाम बताया गया है। सन्तोष—वस्तु की अभिलाषा न करना, आस्तिक्य—परलोक में विश्वास, दान— धन को देव, पितर में बांटना, देव-पूजा—ब्रह्ममूर्ति पूजा, सिद्धान्त भ्रमण उपनिषद आदि सुनना, हविही बुरे

आचरण से दुःखी होना तथा मति, जप और होम। तन्त्र में पांच प्रकार के आसनों का वर्णन है—पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन और वीरासन। आसन के बाद प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम दो तरह का बताया गया है। निगर्भ और सगर्भ। ध्यान और मानव जप करते हुये सगर्भ—प्राणायाम किया जाता है। बीज उच्चारण न करके जो प्राणायाम किया जाय उसे निगर्भ कहा जाता है। प्राणायाम के बाद प्रत्याहार हैं इसका अर्थ है इधर—उधर दौड़नेवाली इन्द्रियों को इन्द्रियबाह्य विषयों से निवृत्त करना। इसी प्रकार अंगुली, एड़ी से शुरू करके सहस्रार पद के नीचे द्वादश दल, कमल तक सोलह स्थानों में प्राणवायु को धारण करने को धारणा कहा गया है। एकाग्रचित्त होकर ब्रह्मचिन्तन करने का नाम ही ध्यान है तथा निरन्तर जीवात्मा परमात्मा के ऐक्यचिन्तन को समाधि कहा गया है।

तंत्र साधना को कुण्डलिनी—योग की साधना भी कहा जाता है क्योंकि कुण्डलिनी का तंत्र में विशेष स्थान है। तन्त्रयोग परमतत्त्व को मातृसत्तात्मक मानता है। मातृसत्ता के दो अविभाज्य पक्ष हैं—शिव और शक्ति। शिव शुद्ध सत् है और शक्ति सर्जनात्मक क्रिया—शक्ति है। शक्ति भगवती मां का क्रियात्मक और मातृसत्तात्मक पक्ष है।<sup>48</sup>

मनुष्य का सचेतन मन विश्व की विराट्शक्ति का ही एक अंश है। शक्ति न केवल मनुष्य को उत्पन्न करती है, बल्कि उसके अन्दर प्रविष्ट होकर उसकी शक्ति का मुख्य आधार और केन्द्र भी बन जाती है। इसी को मनुष्य के अन्दर प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति कहा गया है। यह सर्पिणी के रूप में विश्राम करते हुये कुण्डल मारे सोयी रहती है और जब जगती है तो कुण्डलों को खोलकर ऊपर उठने लगती है। ऊपर उठने तथा ऊपर उठकर शिव—तत्त्व से मिलने का नाम ही योग है। तन्त्र ने त्याग और सन्यास पर विशेष बल नहीं दिया है। तन्त्र साधना की यह मान्यता है कि प्रकृति के दोषों को प्रकृति के द्वारा ही जीता जा सकता है जिस तरह से लोहा—लोहे को काटता हैं उसी तरह से कामनाओं से मुक्ति

कामना—वासना के माध्यम से ही सम्भव हो सकती है। अतः तन्त्र प्रकृति के त्याग में विश्वास न करके प्रकृति के योग में विश्वास करता है।<sup>49</sup> इस प्रकार तन्त्रयोग मुक्ति और भुक्ति दोनों में विश्वास करता है।

अब हम उपनिषदोत्तर काल की रचनाओं में रामायण और महाभारत के अन्दर योग की परम्परा को देखेंगे, जिसमें योग की परम्परा का निर्वाह अच्छी प्रकार से हुआ है। रामायण में सर्वत्र भक्ति—योग का वर्णन मिलता है। वाल्मीकि ने भगवान् राम की कथा कहने के प्रसंग में स्थान—स्थान पर धर्म के समस्त अंगों पर भी अच्छा प्रकाश डाला है और ज्ञान, वैराग्य, योग भक्ति के गूढ़ प्रश्नों को सरल रीति से स्पष्ट किया है। रामायण के अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड और उत्तरकाण्ड में क्रमशः—“प्राणायाम” और चित्त की एकाग्रता का उल्लेख स्थान—स्थान पर किया गया है।<sup>50</sup> अरण्यकाण्ड में उन्होंने मोक्ष प्राप्ति का साधन योग को बताया है। इसी तरह से ज्ञानयोग और कर्मयोग की भी व्याख्या मिलती है। ज्ञानयोग के द्वारा ही मनुष्य को सांसारिक बन्धनों से छुटकारा मिल सकता है। जीव अविद्या रूपी माया के वशीभूत होकर पापकर्म करता है तथा दुःख भोगता है। प्राणी तभी मुक्त हो सकता है जब वह ज्ञानमार्ग के द्वारा अहंकार को त्याग देगा तथा ब्रह्मरूप को समझ लेगा। ज्ञानयोग का मार्ग कठिन है, इसलिये रामायण में भक्तियोग को ही उत्तम बताया गया है। जब तक वैराग्य की भावना नहीं होगी, तब तक कर्मयोग नहीं हो सकता है तथा कर्मयोग के अभाव में ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता है। इस तरह ज्ञान के अभाव में भक्ति नहीं है। अतः इसके लिये भक्ति को ही सर्वोत्तम माना गया है। भक्तियोग भगवान् के दिव्य प्रेम का आनन्द बोध है। योग की यह विद्या उदारं एवं व्यापक है। भक्तियोग के द्वारा ही भगवान् की कृपा का भरोसा करके माया के फन्दे से छुटकारा पाकर मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। रामायणकालीन संस्कृति में हठयोग और राजयोग की पद्धतियों के परिचय का ज्ञान होता है। अष्टांग योग के द्वारा भक्तियोग का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होता है। और लक्ष्य प्राप्त करने की विशेष

भक्ति भी उत्पन्न हो जाती है। पातंजल योगदर्शन में भी 'ईश्वर प्राणिधानदा' सूत्र में ईश्वर भक्ति को योगसिद्धि का एक उत्कृष्ट साधना माना गया है। भक्ति के बिना उपासना की पूर्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि इन दोनों का आपस में अटूट सम्बन्ध है। भक्तियोग के पांच स्वरूप बताये गये हैं। 1. परस्वरूप (ईश्वर) 2. स्वस्वरूप (जीव) 3. उपास्यस्वरूप (ज्ञान विराग) 4. फलस्वरूप (भक्ति) और विरोध स्वरूप (माया) इन सबके लिये अहंकार का त्याग करना आवश्यक बताया गया है। मोक्ष के लिये सर्वथा अहंकार को सर्वथा त्यागकर सर्वोपायशून्य होकर श्रीभगवान् के शरणापन्न-प्रपन्न होना ही बतलाया गया है। इस प्रपत्ति को भक्ति योग कहा गया है। भक्ति के नौ अंग माने गये हैं।<sup>51</sup> जिसका विधि द्वारा साधन किया जाता है। भगवान् के गुणों का श्रवण करना इस नवधा भक्ति का प्रथम अंग है। श्रवण-भक्ति के द्वारा महाराज परीक्षित ने सात ही दिनों में मोक्ष प्राप्त कर लिया था। इसी तरह से इसका दूसरा अंग कीर्तन है। जिसका अर्थ है भगवान् के नाम, गुण और लीला का प्रेमपूर्वक गान करना। इसके प्रभाव से सारे व्यसन नष्ट होकर मन ईश्वर में लगता है। भक्ति का तीसरा अंग स्मरण है जिसके द्वारा भगवान् के स्वरूप का नित्य चिन्तन किया जाता है। इसके द्वारा अमंगल नष्ट होकर शान्ति एवं वैराग्ययुक्त ज्ञान की प्राप्ति होती है।

भक्ति के इस अंग के योग द्वारा ध्रुव आदि अनेक भक्तजनों को भगवत् प्राप्ति हुआ है। पादसेवन इस भक्ति का चौथा अंग है। पादसेवन से साधक के मन का अज्ञानरूपी मैल हटकर शुद्ध एवं पवित्र हो जाता है जैसे भागीरथी में स्नान करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। अर्चन इस भक्ति का पंचम अंग है। अपने इष्टदेव के श्री विग्रह की बाह्य एवं मानसिक पूजा को अर्चन कहते हैं। योगी शुद्धचित्त होकर जो कुछ भी भगवान् को निवेदित करता है, भगवान् उसे अवश्य ग्रहण करता है। अर्चन की महिमा को गीता में भी बताया गया है। भक्ति का छठा अंग वन्दन है। जब अहंकाररहित होकर ईश्वर के आगे नतमस्तक हो उसे वन्दन कहा गया है। भक्ति योग के इस अंग के द्वारा जीव का समस्त अहंकार

नष्ट हो जाता है और ईश्वर को ही जीव सभी शुभकर्मों का कर्ता मानने लगता है। सातावं अंग दास्य है। भगवान् को ही सब कुछ मानकर स्वयं को उनका दास मानना ही दास्य है। दास्यभाव के द्वारा ही जीव यश के योग्य हो सकता है। भक्तियोग का आठवां अंग सांख्य है। इसको करने से भक्त के हृदय में भगवत्प्रेम का विकास होता है। भक्ति का अन्तिम अंग आत्मनिवेदन है। इसमें जीव अपने आपको ईश्वर को अर्पित कर देता है तथा भगवान् में लीन होकर भगवान् की प्रार्थना करता रहता है। इस तरह भक्ति के नौ अंग हैं। यदि जीव किसी एक अंग की भी मन, वचन एवं कर्म से योग करे तो वह संसार रूपी सागर से पार हो जाता है। गृहस्थ एवं विरक्त दोनों के लिये भक्तियोग आसान है। जीवमात्र के लिये भगवत् प्रेमावलम्बन ही यथार्थ योग है।

इस तरह से रामायण में वाल्मीकि ने अहंकार और मोह को छोड़कर राममय दृष्टि से देखना तथा परोपकार, सेवा आदि को भक्ति का लक्षण मानते हुये उसकी व्याख्या की है। शक्ति प्राप्ति के साथ ही प्राणी के अन्दर अहंकार की वृद्धि होने लगती है, इसीलिये भक्तियोग को ही रामायण में सर्वोत्कृष्ट बताया गया है।

वाल्मीकि का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ योगवाशिष्ठ हैं। हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक ग्रन्थों में इसका ऊँचा स्थान है इसमें श्रीरामचन्द्र और वशिष्ठ के संवाद के रूप में दर्शन, ज्ञान, योग और कर्म सिद्धान्तों की स्पष्टता एवं गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया गया है।<sup>52</sup> संसार से पार होने के दो उपाय हैं—योग (कर्मयोग) तथा ज्ञान (ज्ञानयोग)। ये दोनों एक ही फल को प्रदान करने वाले हैं। किसी को योग (कर्मयोग) असाध्य होता है एवं किसी को ज्ञान—निश्चय अर्थात् ज्ञानयोग किन्तु ज्ञान को निश्चय ही सरल साध्य बताया गया है।

योगवाशिष्ठ में एक जगह पर परमात्मा के साक्षात्कार हेतु ध्यान को अनिवार्य बताकर ध्यान करने का निर्देश दिया गया है।<sup>53</sup> योगवाशिष्ठ में केवल श्वास—प्रश्वास को ही प्राणायाम नहीं बतलाया है वरन् और भी अनेक ऐसे

क्रियान्वित साधन बतलाये गये हैं जिनके माध्यम से प्राणों की प्रगति और शक्ति, वृद्धि का उद्देश्य पूरा होता है। इनमें से वैराग्य, रेचक, पूरक तथा कुम्भक आदि प्राणायाम का गहरा अभ्यास है। रेचक के अभ्यास से प्राण को आकाशपर्यन्त विस्तृत करना।

कुम्भक के द्वारा प्राण को स्तम्भित करना, आदि विधियों का वर्णन मिलता है। इसी तरह से प्राणनिरोध की ओर भी अनेक विधियाँ अनेक विद्वानों द्वारा बतायी गयी है। इसके अतिरिक्त हमें योगवाशिष्ठ में कुण्डलिनी का भी पूर्णरूप से वर्णन मिलता है। तथा इसी के साथ चक्रों और नाडियों का भी वर्णन मिलता है। कुण्डलिनी सब प्राणियों की परमा शक्ति है तथा प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सभी शक्तियों की सत्ता-स्फूर्ति होने के कारण सबको वेग प्रदान करती हैं। यह कुण्डलिनी कमल में भ्रमर की तरह देह के मध्य जैसे-जैसे स्फुरित होती है, वैसे-वैसे अन्तःकरण में ज्ञान होता है। कुण्डलिनी में हृदयकोष की सभी नाडियाँ सम्मिलित हैं। गीता में जिस अवस्था को स्थित प्रज्ञ कहा गया है उसी को योगवाशिष्ठ में जीवन्मुक्त अवस्था कहा गया है। जीवनमुक्त अवस्था को ही ज्ञान और योग का सर्वोत्तम फल बताया गया है। इस तरह हम देखते हैं कि योगवाशिष्ठ एक विशाल ग्रन्थ है। जिसमें भारतीय अध्यात्मज्ञान के सभी विषयों को संग्रह करने का प्रयास किया गया है। योगसाधन की क्रियायें उनकी विधि तथा लाभ का वर्णन एक जगह नहीं बल्कि विभिन्न स्थानों पर मिलता है। योग वाशिष्ठ में ज्ञानयोग, राजयोग, हठयोग, कर्मयोग आदि सभी तत्वों का विवेचन किया गया है।

महाभारत में योग की परम्परा का सशक्त आधार प्राप्त होता है। यह भारतीय अध्यात्म और नीतिशास्त्र का विपुलकाय विश्वकोष है इस ग्रन्थ में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का जिस तरह वर्णन किया गया है उसी से प्रेरित होकर व्यास ने लिखा है कि जो कुछ यहां कहा गया है वही अन्यत्र प्रतिपादित किया गया है और जो यहां नहीं है वह कहीं भी नहीं है।<sup>54</sup> महाभारत में आदि से अन्त

तक योग का सविस्तार प्रतिपादन किया गया है। महाभारत में कुल 18 पर्व हैं। जैसे तो इन सभी पर्वों में आदि से अन्त तक आध्यात्म विद्या के विविध सूत्र इतस्ततः भरे पड़े हैं किन्तु विशेष रूप से उद्योगपर्व, भीष्म पर्व और शान्ति-पर्व में आध्यात्मशास्त्र के बहुमूल्य विषयों की अधिकता है। महाभारत में ब्रह्म की प्राप्ति के लिये योगमार्ग का निर्देश दिया गया है एवं व्रत, उपवास, क्षमा और शौच आदि के साथ अहिंसा को भी महत्व दिया गया है। मोक्ष-प्राप्ति के लिये मन के ऊपर नियन्त्रण करके योग साधन के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति को सरल बताया गया है। यम-नियम, आसन, समाधि वाले अष्टांग योग का वर्णन भी महाभारत में मिलता है। इसके साथ ही उसमें धारणा का फल, अष्टसिद्धि शिवयोग, प्राणायाम, ध्यान आदि की सामग्री भी यत्र-तत्र विखरी हुई मिलती है। एक सौ पंचानवे अध्याय में 22 श्लोक के अन्दर ध्यानयोग का वर्णन है। दो सौ चालीसवें अध्याय में छत्तीस श्लोकों के अन्दर योग से परमात्मा की प्राप्ति का वर्णन है। तीन सौ सोलहवें अध्याय में सत्ताइस श्लोकों के अन्दर योग का वर्णन और उसके साधन से परमात्मा की प्राप्ति का वर्णन है।<sup>55</sup> प्रत्याहार के स्वरूप को 'सर्वप्रथम इन्द्रियों को जीतना चाहिये' इस तरह से स्पष्ट किया गया है।<sup>56</sup> इन्द्रिय विजय कठिन होता है इसलिये अभ्यास के द्वारा चित्त को सब तरह से मन को हटाकर बुद्धि में लगाना चाहिए तथा चित्तवृत्तियों के शान्त होने पर ध्यान और योग साधना में सहायक देश, कर्म, अर्थ, उपाय, अपाय आद्वार, संहार, मन, दर्शन, अनुराग, निश्चय और चाक्षुष इन बारह योगांगों का सहारा लेने का निर्देश दिया गया है। महाभारत में निष्काम कर्मयोग का वर्णन किया गया है जिसमें फलाशा को छोड़कर अपने कर्तव्यों का पालन करने को बताया गया है जिससे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। योग के सभी रूपों का वर्णन हमें महाभारत में उद्योग-पर्व, भीष्म-पर्व तथा शान्तिपर्व में देखने को मिलता है। महाभारत के शान्ति-पर्व एवं अनुशासन-पर्व में अनेक ऐसे सर्ग हैं। जिनमें योग-प्रक्रिया का विस्तार पूर्वक वर्णन है।<sup>57</sup> इसी तरह से योगशास्त्र में भी माना गया है कि सत्यहिंसादि के अनुसरण द्वारा

इन्द्रियों के शोधन एवं निरोध पूर्वक सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखते हुये मानसिक शुद्धि से परमात्मदर्शन रूप अनुत्तम सुख की प्राप्ति होती है। पुनः कहा गया है कि सत्य, समता, दम, मत्सरता का अभाव, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनसूया, त्याग, परमात्मा का ध्यान, आर्यता, निरन्तर स्थिर रहने वाली वृत्ति तथा अहिंसा आदि सत्य के तेरह रूप हैं।<sup>58</sup> महाभारत के अंश गीता (भीष्म-पर्व) में किसी एक योग के स्वरूप को परिभाषित करना अत्यन्त ही कठिन है। गीता स्वयं योगशास्त्र और आध्यात्मशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है। महाभारत के पच्चीसवें अध्याय से बयालिसवें अध्याय तक गीता का उपदेश निहित है फिर भी गीता में कर्मयोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि के साथ ही राजयोग का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है।

विभिन्न योगों के परिचय एवं परम्परा के समन्वयात्मक प्रयास के बाद हम विभिन्न नास्तिक एवं आस्तिक दर्शनों में योग का परिचय एवं परम्परा पर संक्षिप्त दृष्टि डालेंगे।

जैनाचार्यों ने योग को संस्कृत के 'युज्' धातु के आधार पर जोड़ने के अर्थ में स्वीकार किया है।<sup>59</sup> जिसको इन योगार्थों में बताया है कि जिन-जिन साधनों से आत्मा की शुद्धि और मोक्ष का योग होता है उन सभी साधनों को योग कहते हैं। जैन योग के संस्थापक महावीर ने अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रवाहित होने वाली योग की धारा को प्रायोगिक धरातल पर क्रमबद्ध व्यवस्थित एवं संशोधित करके सर्वपरिचित बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। उनके द्वारा योग के संग्रहीत रूप को हम आचारांगसूत्र, भगवतीसूत्र आदि आगमों में देख सकते हैं। महावीर की साधना प्रक्रिया ऋषभदेव और पार्श्वनाथ तीर्थकरों से प्रभावित है। डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार यजुर्वेद जैसे प्राचीन ग्रन्थ भी ऋषभदेव का उल्लेख करते हैं।<sup>60</sup> सिन्धु घाटी से प्राप्त सिक्कों पर अंकित कायोत्सर्गासन में स्थित नग्न मूर्तियों तथा सिक्कों पर (सिक्का संख्या 449) अंकित 'जिनेश्वर' जैसे शब्द देखने को मिलते हैं जिन्हें ऋषभदेव की मूर्तियां समझा गया है।<sup>61</sup> इन्हीं की भांति

पार्श्वनाथ भी जैन परम्परा के आदि तीर्थकरों में से एक हैं। जैन आगमों में इनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता के साथ योग परम्परा की प्राचीनता और प्रामाणिकता भी स्वतः सिद्ध होती है।

जैन आगमों में योग शब्द का अर्थ भिन्न रूप में प्रयुक्त हुआ है मन, वचन और शरीर की क्रियाओं से उत्पन्न आत्म प्रदेशों का कम्पन जिसमें कर्मपरमाणुओं का बन्ध होता है, उसे योग कहा गया है। जैन दर्शन में अयोग शब्द आया है जो पातंजल योग के योग शब्द से समानता रखता है। अयोग शब्द शरीर एवं वाणी के व्यापारों के निरोध के साथ मन के व्यापारों के निरोध को भी सूचित करता है। जैन साधना के अर्थ में योग शब्द को प्रचलित करने का श्रेय आचार्य हरिभद्र को है। उन्होंने मोक्षतत्त्व के साथ संयोग करने वाले धर्म-व्यापार को योग कहा है।

जैन योग में अष्टांग योग का भी वर्णन किया गया है। पर सब अंगों को अनिवार्य नहीं माना गया है। अष्टांग योग में चित्त की वृत्तियां के निरोध पर बल दिया गया है। जैनागमों में मन को कहीं-कहीं चित्त के रूप में व्यवहार में लाया गया है। जैसे—मुनि अव्याक्षिप्त चित्त से गोचरी न करें। एकाग्र मन के सन्निवेशन से चित्त निरोध होता है। इस तरह ऐसा वर्णन भी है। जिससे एकाग्र और निरोध दोनों ही अवस्थाओं का पता चलता है।

योग के चार आयाम हैं — अत्रत, अकषाय इन्द्रियव्यवहार-निरोध एवं अक्रियत्व। जिसको पातंजल योग के यम, ध्यान, समाधि एवं प्रत्याहार से व्याख्यायित कर सकते हैं।<sup>62</sup> इसी तरह हमें द्वादशांग योग का भी वर्णन मिलता है। जिसमें अनशन, उणोदरी, भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, कायकलेश, संलीनता, प्रायश्चित्त, विनय, स्वाध्याय, वैयाकृत्य ध्यान एवं व्युत्सर्ग का विधान है। जैन योग में प्रथम छः को बहिरंग तथा अन्तिम छः को अन्तरंग साधना की संज्ञा दी गयी है।<sup>63</sup>

जैनधर्म में "समाधिमरण" का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है तथा "समाधि शतक" नामक एक ग्रन्थ भी मिलता है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने अष्टांगों

के आधार पर आठ दृष्टियों का वर्णन "योगदृष्टि समुच्चय" में किया है। मित्रा, तारा, बला, दीप्ता, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा। इस प्रकार हमें जैनों में योग की परम्परा पूर्णरूप से विद्यमान मिलती है।

बौद्ध-दर्शन भी मूलतः व्यावहारिक और साधनाप्रधान है। स्वयं भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति के लिये कठिन योग-साधना की थी। इसके लिये उन्होंने सिद्ध गुरुओं से योग-दीक्षा ली थी।<sup>64</sup>

बुद्ध की अपनी साधना हठयोग और राजयोग की साधना का मिला-जुला रूप है। बौद्ध योग के संयुक्त निकाय में "पटिलल्लनियोग" शब्द का प्रयोग जोड़ने एवं आन्तरिक शान्ति के अर्थ किया जाता है तथा धम्मपद दो सौ बयासी में ज्ञान-प्राप्ति के साधन के रूप में योग शब्द का प्रयोग किया गया है। पातंजलयोग की तरह बौद्ध योग भी अष्टांगमार्गी है। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि के द्वारा अष्टांग मार्ग की साधना की जाती है। प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा उपदिष्ट पदार्थों का यथार्थ ज्ञान की सम्यक् दृष्टि है। समस्त भौतिक पदार्थों के दुखस्वभावता के ज्ञानपूर्वक आध्यात्मिक मार्ग पर चलने हेतु दृढ़ संकल्प का होना ही सम्यक् संकल्प है। मिथ्या वचन, कर्कशवचन, पैशून्य वचन एवं अनर्थपूर्ण वचनों से दूर रहना सम्यक् वचन है। धम्मपद में भी सम्यक् वचन की प्रशंसा की गयी है। अशुभ कर्मों के निरोधपूर्वक निर्वाण-प्राप्ति में सहायक कर्मों का अनुष्ठान ही सम्यक् कर्मान्त का तात्पर्यार्थ है। किसी को पीड़ा न पहुंचाते हुये न्यायपूर्ण ढंग से जीविकोपार्जन करना सम्यक् आजीव है। दूषित विचारों के परित्याग करने तथा शुभ विचारों की धारणा करना सम्यक् व्यायाम है। भौतिक पदार्थों में अनित्यता एवं दुखमयता रूप तथ्य का सदैव स्मरण करना ही सम्यक् स्मृति है। एकाग्रचित्त होकर तत्त्वों की भावना ही समाधि है। समाधि के द्वारा प्राप्त प्रज्ञा द्वारा ही तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कर निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है।

अष्टांगिक मार्ग के प्रथम दो अंगों (सम्यक् दृष्टि एवं सम्यक् संकल्प) को प्रज्ञा, अन्तिम तीन अंगों को (सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि) को समाधि, शेष सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म एवं सम्यक् आजीव को शील कहा गया है। इस तरह बौद्ध योग को त्रिरत्नः साधना मार्गी साधना भी कहा जाता है। कहीं-कहीं इन्हें वीर्य, श्रद्धा एवं प्रज्ञा भी कहा गया है। ये ही मार्ग के तीन अंग हैं। शील की अवस्था में योगी असत्कर्म के निषेधपूर्वक सत्कर्म का अनुसरण करता है। दूसरी अवस्था में शील द्वारा शुद्ध होकर अन्तःकरण में समाधि अथवा ध्यान द्वारा तत्त्वों की भावना करता है। "श्रामध्यफलसूत्र" संयुक्त निकाय एवं विशुद्धिमग्नो में मार्ग का यह तीन तरह से विभाजन किया गया है।

शील आधारशील को कहा गया है। इसमें प्रतिष्ठित होने पर ही समाधि की भावना असम्भव है। कुशलचित्त की एकाग्रता ही समाधि है। काम एवं अकुशल कर्मों के परित्याग के द्वारा ही समाधि को सिद्ध किया जा सकता है इसी तरह प्रज्ञा (विपश्यना) का भी वर्णन मिलता है। इसे लोकोत्तर समाधि भी कहते हैं। सप्तविशुद्धियों द्वारा प्रज्ञा को उत्पन्न किया जा सकता है — शील विशुद्धि, चित्तच्छिशुद्धि, दृष्टि-विशुद्धि, कांक्षा वितरण शुद्धि (संशयों को उत्तीर्ण कर, काम रूप के हेतु का परित्याग) मार्गामार्ग ज्ञानदर्शन विशुद्धि, प्रतिपत्ति ज्ञान दर्शन विशुद्धि अष्टांगिक मार्ग का ज्ञान एवं प्रत्यक्ष दर्शन तथा ज्ञान दर्शन विशुद्धि।

बौद्ध योग में यम-नियम आदि का वर्णन भी मिलता है। यम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य आदि शील के अन्दर समाविष्ट हैं तथा नियम के अन्दर शौच, सन्तोष, तप, निष्काम कर्म आदि तत्त्वों को शील से सम्बन्धित बताया गया है। प्रत्याहार को बौद्धों ने इन्द्रिय संवर कहा है जो शील से सम्बन्धित है। आसनों में हमें पद्मासन का वर्णन मिलता है। जिसे पर्यक आसन कहा गया है। पालि साहित्य के अनुसार पर्यक आसन में बायीं जांघ पर दाहिना पैर, दाहिनी जांघ पर बायां पैर रखने का विधान है। इसी को बुद्धासन के रूप में भी जाना जाता है, क्योंकि बुद्ध को बोधि की प्राप्ति भी इसी आसन में हुई थी। इसके अतिरिक्त अन्य

आसनों की चर्चा प्रायः नहीं हुई है।

बौद्ध योग में प्राणायाम के लिये आनापान स्मृति की व्याख्या की गयी है "आन" का अर्थ सांस लेने से है तथा "अपान" का अर्थ सांस छोड़ने से। प्रत्याहार को बौद्ध योग में हम यम-नियम के अन्तर्गत देख सकते हैं। बौद्ध योग में धारणा एवं ध्यान को भी समाधि का ही अंग माना गया है अट्टसालिनी सूक्त में समाधि का वर्णन मिलता है। समाधि शब्द अष्टांग मार्ग सन्दर्भ में बौद्ध निकायों में प्राप्त हुआ है। "समाधान", "सामधि" तथा "समाधीयते अनेन" इन शब्दों से हमें पातंजल योगीय आसन, प्राणायाम, धारणा एवं ध्यान आदि तत्त्वों का बोध होता है। समाधि के भावात्मक एवं करणार्थक अर्थ "मज्जिमनिकाय" में उल्लिखित धम्मदिन्ना और विशाखा के संवाद से प्रकट होते हैं। एकाग्रता को ही समाधि माना गया है। समाधि को "षट्संमिदाभग्ग" में चित्त की स्थिति, अवस्थिति, अविक्षेप एवं समर्थ आदि शब्दों से परिभाषित किया गया है। बौद्ध योग में तन्त्र मन्त्र का भी समावेश था। बौद्ध तन्त्र भारत में उतना और उस रूप में प्रचलित नहीं है, जितना कि वह भारत के बाहर के देशों में और विशेष रूप से तिब्बत के लाभार्थी के मध्य प्रचलित हैं। तिब्बत के बौद्ध लामा का भी वर्णन मिलता है जो 'ॐ मणि-पद्मेकम' का जप करते हुये चक्र फिराया करते थे। कुछ लोगों ने इनका अभिप्राय हठयोग में वर्णित मणिपूरक-चक्र से लगाया है, क्योंकि इसी से कुण्डलिनी जाग्रत होती है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में हठयोग का भी वर्णन आया है। इस तरह बौद्ध वाङ्मय में योग साधना का सम्यक् रूप से प्रतिपादन हुआ है।

जिस प्रकार नास्तिक दर्शनों में भारतीय योग-परम्परा को स्वीकार करते हुये अपनी दार्शनिक दृष्टियों को योग की व्यावहारिक आधारशिला पर प्रतिष्ठित किया है, उसी प्रकार परम्परागत आस्तिक दर्शन-सम्प्रदायों यथा-सांख्ययोग, न्याय-वैशेषिक, कर्ममीमांसा, ज्ञानमीमांसा आदि ने भी भारतीय योग परम्परा को अपनी दार्शनिक दृष्टियों की स्वाभाविक आधारभूमि के रूप में स्वीकार किया है। इन दर्शन सम्प्रदायों को आस्तिक षट्दर्शन की संज्ञा इसलिये दी जाती है, क्योंकि

ये दर्शन सम्प्रदाय एक दूसरे के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों को संयुक्त रूप से स्वीकार करते हैं। इन सभी की मुख्य जिज्ञासा अज्ञान, दुःख और बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना है। इसलिये इन्होंने अपनी अपनी दार्शनिक दृष्टियों के अनुसार योग साधना को स्वीकार किया है।

सांख्य-दर्शन के प्रणेता महामुनि कपिल हैं। कपिल का उल्लेख महाभारत और पुराणों में मिलता है। कपिल ने सांख्य की जिस योग साधना को स्वीकार किया है वह ज्ञानात्मक है उनकी साधना विवेक और वैराग्य की साधना है। सांख्य की ज्ञानमार्गीय साधना पद्धति बुद्धि के विवेक से प्रारम्भ होती है। बुद्धि के कारण ही पुरुष अपना तादात्म्य प्रकृति की नाना प्रकार की गतिविधियों से कर लेता है। बुद्धि के कारण ही वह प्रकृति के परिवर्तनों को अपने अन्दर अनुभव करता है, परन्तु पुरुष प्रकृति से एक नहीं है जब पुरुष प्रकृति के भोगों और विषयों से तटस्थ होकर उदासीन हो जाता है तभी वह अपने मूल स्वरूप में स्थिर होता है। पुरुष की मूलस्वरूप की स्थिति को बौद्धिक रूप से उपलब्ध करने का प्रयास ही सांख्य योग की ज्ञानात्मक साधना है। इसमें पुरुष को अपने अकर्तृत्व और ज्ञातृत्व का विवेक होता है। जैसे ही वह अपने आपको प्रकृति से मुक्त कर लेता है वैसे ही वह प्रकृति के परिवर्तनों और प्रभावों से मुक्त हो जाता है। फिर वह आसक्ति और तादात्म्य के कारण प्रकृति की नामरूपात्मक गतिविधियों से प्रभावित नहीं होता। वह सच्चे अर्थों में निस्त्रयगुण्य होकर प्रकृति के तीनों गुणों से ऊपर उठ जाता है। यही सांख्य की ज्ञानपरक साधना है।

पतंजलि का योग भारतीय योग परम्परा की मुख्य धाराओं में से एक है। पतंजलि को ही भारतीय योग का सर्वप्रथम वैज्ञानिक व्यवस्थापक माना जाता है। पतंजलि का योग राजयोग की साधना है। पतंजलि ने चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है।<sup>65</sup> इस चित्तवृत्ति के निरोध के लिये पतंजलि ने सर्वप्रसिद्ध अष्टांग मार्ग के साधनों का प्रतिपादन किया है। पतंजलि के योग की धारा को योग की लगभग सभी विधाओं में अंशतः या पूर्णतः किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार

किया जाता हैं। इसमें क्रियायोग और समाधियोग दोनों का समन्वय है। कपिल और पतंजलि योग के द्वारा जिस कैवल्य या विवेक ज्ञान की प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। वह एकत्व और अद्वैत्व का ज्ञान नहीं है। इन्होंने पुरुष और प्रकृति के भेद ज्ञान को ही विवेक ज्ञान के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार कपिल और पतंजलि भेद और द्वैतज्ञान के द्वारा आत्मतत्त्व के साक्षात्कार में विश्वास करते हैं।

न्याय दर्शन के प्रणेता गौतम हैं। इसमें भी हमें योग का वर्णन मिलता है। इसके बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। गौतम दर्शन का प्रारम्भ "प्रमाण प्रमेय आदि" सोलह पदार्थों के विवेचन के द्वारा ही होता है। तथापि मोक्ष के लिये अष्टांग-योग को मानना आवश्यक बताया गया है। न्यायसूत्रों में अनेक स्थानों पर योग का उल्लेख मिलता है। यम-नियम तथा आध्यात्म विधि के उपायों के द्वारा योग से आत्मा का संस्कार सम्भव है।<sup>66</sup> इसी तरह योग के उपयुक्त स्थान का वर्णन भी मिलता है कि अरण्य, गुहा तथा नदी के किनारे आदि स्थानों पर ही योगाभ्यास किया जाता है। इसी तरह ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये समाधि साधना को आवश्यक बताया गया है। समाधि को विशेष अभ्यास के द्वारा ही सम्भव बताया है।<sup>67</sup>

वैशेषिक दर्शन में भी योग का उल्लेख मिलता है। कणाद ने भी अष्टांग योग को महत्व दिया है तथा आत्मकर्म के द्वारा मोक्ष को सम्भव बताया है। इसी को यम-नियम आदि से चन्द्रकान्त ने व्याख्यायित किया।<sup>68</sup> योगियों को अपने आत्मा (परमात्मा) एवं मन (जीवात्मा) के संयोग के माध्यम से ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तथा इस तरह वर्णन भी मिलता है कि मन और आत्मा के संयोग से ही योगियों को सूक्ष्म से सूक्ष्मतर द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है। इसी तरह समाधि के विषय में यह कहा गया है कि जो पूर्ण योगी हैं और समाधि समाप्त कर चुके हैं उन्हें बिना समाधि के ही अतीन्द्रिय द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है।<sup>69</sup> इसी तरह आत्मसमवेत होने से आत्मिक गुणों का प्रत्यक्ष होता है, ऐसा भी उल्लेख मिलता

है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय-वैशेषिक दर्शन, ज्ञानमीमांसा और तत्व-मीमांसा की दृष्टि से एक दूसरे के पूरक-दर्शन हैं। दोनों एक दूसरे की ज्ञान और तत्व-मीमांसा को स्वीकार करते हैं। इनमें योग साधना विषयक उपायों में भी समानता प्रतीत होती है। दोनों दुःख से निवृत्ति में और मोक्ष की प्राप्ति में विश्वास करते हैं। दोनों ने ज्ञान से ही मुक्ति को स्वीकार किया है यद्यपि इनकी मोक्ष विषयक धारणा और साधनागत विचार विशेष उत्साहवर्धक नहीं है तथापि यह माना जा सकता है कि परम्परागत ध्यान, धारणा और प्राणायाम आदि की योग-पद्धति को इस दर्शन द्वय ने भी समान रूप से अपनी आचार मीमांसा के रूप में स्वीकार किया है। गौतम ने अपने न्यायसूत्र में प्राणायाम आदि उपायों का आश्रय लेने की बात स्पष्ट रूप में कही है। वैशेषिक ने भी योगाभ्यास, प्राणायाम आदि साधनों को नितान्त आवश्यक माना है।

पूर्वमीमांसा और उत्तर-मीमांसा में भी मोक्षोपाय के रूप में योग को स्वीकार किया गया है। जैमिनि के दर्शन में मोक्ष का अर्थ आत्मा और जगत् के सम्बन्ध का नाश है। मोक्ष की प्राप्ति के लिये जीव कामनारहित होकर निषिद्ध कर्मों का त्याग कर देता है और नित्य नैमित्तिक कर्म करते हुये आत्मज्ञानपूर्वक वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करता है। अतः काव्य-निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति और नित्य कर्मों में प्रवृत्ति ही मोक्ष की साधना है पूर्व-मीमांसा कर्म की प्रधानता से ही मोक्ष की प्राप्ति में विश्वास करते हैं।

उत्तर मीमांसा में आचार्य शंकर कर्म की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है। पूर्वमीमांसा में जहां "प्रपंच-सम्बन्ध-विलय" को मोक्ष माना गया है। वहां उत्तर-मीमांसा में "प्रपंच-विलय" को ही मोक्ष स्वीकार किया गया है।<sup>70</sup> इसके लिये साधक-चतुष्टय से युक्त होकर श्रवण, मनन और निदिध्यासन करता है तथा गुरु की कृपा से "तत्त्वमसि" का उपदेश पाकर सद्यः आत्म-लाभ, ब्रह्मात्मैक्यज्ञान या आत्म-साक्षात्कार

प्राप्त करता है।

भारतीय नास्तिक और आस्तिक दर्शन सम्प्रदायों में योग की जो धारा इन दर्शनों सम्प्रदायों की पृष्ठभूमि में विद्यमान दिखायी देती है, वह शंकरोत्तर-वेदान्त में अर्थात् शंकर के परवर्ती आचार्यों और सम्प्रदायों में अधिक मुखर और सशक्त रूप में अभिव्यक्त होते हुये दिखायी देती है। इस दृष्टि से भारतीय दर्शन और संस्कृति के जब शंकरोत्तर काल में भारतीय योग परम्परा का अध्ययन कर सकते हैं किन्तु विस्तारभय से ऐसा नहीं हो पा रहा है।

वैष्णव आचार्यों के बाद शैव-शाक्त परम्परा की योग-साधना का प्रभाव भारतीय योग-परम्परा में दिखाई देता है। शैव और शाक्त सम्प्रदाय भारतीय योग-परम्परा के विशिष्ट अंग हैं। शैव में ओंकार और शिव को प्रधानता दी जाती है तथा शाक्त में शक्ति को प्रधानता दी जाती है। इसी से इसमें "हीं" कारं बीज और कुण्डलिनी शक्ति की आराधना को प्रधानता दी जाती है। शिव या रुद्र की उपासना भारत वर्ष में वैदिक काल से ही चली आ रही है। वेद, उपनिषद् और पुराणों में इसके प्रमाण मिलते हैं।

भारतीय योग परम्परा के अन्तर्गत नाथ-सम्प्रदाय योग की सशक्त और प्रभावशाली परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। नाथ शब्द की साम्प्रदायिक अर्थ में व्युत्पत्ति करने से ज्ञात होता है कि "ना" का अर्थ अनादि रूप है और "थ" अक्षर का अर्थ भुवनत्रय की स्थापना है।<sup>71</sup> नाथ सम्प्रदाय के और कई नाम प्रचलित हैं जैसे-सिद्धमत, सिद्ध-मार्ग, योग-मार्ग, योग-सम्प्रदाय, अवधूत-मत और अवधूत-सम्प्रदाय आदि। नाथ सम्प्रदाय की गुरु-परम्परा के अनुसार आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गहनिनाथ तथा ज्ञानानाथ नाथ-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य हैं। गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे। योग-साधना के सिद्धान्तों के आधार पर योगी गुरु गोरखनाथ ने एक सुसंगठित धार्मिक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। इसीलिये गोरखनाथ नाथ-सम्प्रदाय के उन्नायक माने जाते हैं। गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित योग-सम्प्रदाय के योगी सामान्यतः "नाथयोगीः"

“सिद्धयोगी”, “दरसनी योगी” या “कनफटा योगी” कि नाम से जाने जाते हैं। कनफटा योगियों के विषय में प्रोफेसर ब्रिक्स ने लिखा है— “कनफटा योगी भारतवर्ष में सर्वत्र पाये जाते हैं वे किसी भी धार्मिक— सम्प्रदाय से अधिक विस्तृत हैं। वे दक्षिण के उत्तरी भाग, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र आदि तथा नेपाल में तपस्वियों और यातियों के रूप में कभी छिट-पुट तो कभी संगठित भी मिलते हैं।” इस सम्प्रदाय के योगियों के कुछ निश्चित प्रतीक हैं, जिन्हें केवल व्यवहारगत साम्प्रदायिक चिह्न नहीं माना जाता, बल्कि जिनका एक सुनिश्चित अर्थ है।

नाथ—योगियों में “हठयोग” की साधना प्रचलित है। हठयोग को “राजयोग” की प्राप्ति के लिए एक सोपान माना जाता है। “स्वात्माराम योगी” ने अपनी कृति में इस तथ्य को व्यक्त किया है।<sup>72</sup> गौरक्षपद्धति नाथ—सम्प्रदाय का आधार ग्रन्थ है। इसमें हठयोग और राजयोग अपने सर्वसमुच्चय सारभूत रूप में प्रकट हुआ है। हठयोग से समाधि अवस्था एवं उन्मनी भाव की सिद्धि होती है तथा शून्याशून्य परम पद की प्राप्ति करता है। हठयोग की साधना का कर्म “प्राण — साधना” है।

नाथ— योग में प्राण—अपान, रज एवं वीर्य, सूर्य एवं चन्द्र तथा जीवात्मा एवं परमात्मा शिव—शक्ति के संयोग को योग कहा गया है। इसमें मुख्यतया षडंग—योग की साधना प्रचलित है। इसके अन्तर्ग छः प्रमुख स्थितियाँ आती हैं। “गोरक्षशतक” में षडंग—योग का उल्लेख किया गया है।<sup>73</sup> इसके आसन, प्रायाणाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि को योग के छः अंग माने गये हैं। यद्यपि नाथयोग से सम्बन्धित कृतियों में प्रायः हमें सभी जगह षडंग—योग का ही उल्लेख मिलता है, तथापि “सिद्ध सिद्धान्त पद्धति” एवं “दत्तात्रेय संहिता” आदि में यम—नियम की गणना करके अष्टांग—योग का वर्णन भी किया गया है। यम—नियम का वर्णन हमें “हठयोग—प्रदीपिका” में भी मिलता है, परन्तु उसकी योगांगों में परिगणित न करके षडंग—योग का ही निरूपण हुआ है। यम—नियम का अर्थ “सिद्धसिद्धान्त पद्धति” में स्पष्ट करते हुए कहा गया है। कि इन्द्रियजय पूर्वक आहार, निद्रा, शीत, वात एवं आतप आदि द्वन्द्वों को नियन्त्रित कर योग साधना में लीन रहना

ही यम है। नाथयोगी दस यम और दस नियम की व्याख्या करते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, ऋजुता (जीवन में सरलता), युक्ताहार तथा शौच ये दस यम हैं।

मन व्यापार का नियन्त्रण ही नियम है। एकान्तवास, असंगता प्राप्त वस्तु में ही सनतुष्टि एवं गुरु चरण के आश्रय में ही निर्भरता नियम के लक्षण माने गये हैं। तप सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वर-पूजन, सिद्धान्तश्रवण अर्थात् आध्यात्मशास्त्र का पठन-पाठन एवं मनन ही मति, तप एवं हवन ये दस नियम बताये गये हैं। हठयोग-प्रदीपिका में यम-नियम का उपरोक्त वर्णन किया गया है।

इसी तरह आसन का भी वर्णन मिलता है। हठयोग की साधना का प्रथम अंग आसन है। अपने स्वरूप में चेतना की संस्थिति ही आसन है।<sup>74</sup> नाथ-योगियों की मान्यता है कि भगवान शिव ने लाख आसनों का उपदेश दिया था, जिनमें चौरासी आसन ही मुख्य हैं। इनमें से कुछ प्रमुख आसन स्वस्तिक आसन, गौमुख आसन, वीरासन, कूर्मासन, कुक्कुट आसन, उत्तानकूर्मासन, आकर्षण धनुरासन, मत्स्येन्द्र आसन, मयूरासन, शवासन आदि हैं। इसके अतिरिक्त चार अन्य श्रेष्ठ आसनों की भी व्याख्या मिलती है। हठयोग-प्रदीपिका में सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन एवं भ्रदासन इन चारों आसनों की श्रेष्ठतम स्वीकार किया गया है। आसनों में सिद्धासन को सर्वश्रेष्ठ आसन माना गया है। आसन के पश्चात् एवं प्राणायाम के पूर्व षट्कर्म करने का निर्देश दिया गया है। षट्कर्म द्वारा शरीर के दोषों का शोधन होता है। धौति, वास्ति, नेति, त्राटक, नौलि तथा कपालभाति ये षट्कर्म हैं।

नाथ-योग में प्राणायाम का भी महत्वपूर्ण स्थान है। ऐसा वर्णन मिलता है कि निर्मल चित्त में स्वात्मज्ञान प्रकाशित होता है। इसलिए मुमुक्षु को प्राणजय करना चाहिए। सूर्यभेदन, उज्जयायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा एवं प्लाविनी आदि प्राणायाम प्रमुख हैं। कुण्डलिनी जागरण हेतु नाथयोगी मुद्रा एवं बन्ध का अभ्यास बताते हैं। ये दस हैं— आसन के माध्यम से शरीर को स्वस्थ

बनाकर, प्राणायाम के द्वारा प्राण का संयमन एवं मुद्रा आदि के अभ्यास से प्रत्याहार सिद्ध होता है। प्रत्याहार का वर्णन एवं उसकी परिभाषा सिद्धसिद्धान्तपद्धति में मिलती है। प्रत्याहार के द्वारा काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह आदि विकारों का विनाश होता है। महर्षि घेरण्ड ने कहा है कि जहां-जहां मन चंचल होकर भ्रमित होता है, वहां-वहां से लौटकर उसे वश में करना चाहिए। इसी तरह धारणा का उल्लेख भी किया गया है। धारणा के लक्षण को प्रकाशित करते हुए कहा गया है कि बाहर एवं भीतर एक ही निज-तत्त्व रूप परम शिव व्याप्त है। अन्तःकरण से इस तरह की भावना करना ही धारणा का लक्षण है। ऐसा कहा जाता है कि धारणा के द्वारा ही पृथ्वी तत्त्व, जल-तत्त्व, अग्नि-तत्त्व, वायु-तत्त्व आदि की शक्ति प्राप्त होती है तथा आकाश-तत्त्व की धारणा को मन एवं प्राण के साथ लयपूर्वक करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।<sup>75</sup>

ध्यान का अन्तिम लक्ष्य आत्मा में चित्तवृत्ति का लय होना है। नाथयोगियों में ध्यान के तीन प्रकार पाये जाते हैं— स्थूल, ध्यान, ज्योर्तिध्यान और सूक्ष्मध्यान। जिसके द्वारा हमें इष्टदेव या गुरु का चिन्तन हो उसे स्थूल ध्यान, जिससे तेजोमय ब्रह्म या शक्ति का ध्यान हो वह ज्योर्तिध्यान, जिससे ब्रह्म कुण्डलिनी का जागरण हो उसे सूक्ष्म ध्यान कहा जाता है।

विवेक मार्तण्ड में सभी चिन्ताओं से रहित निश्चल तत्त्व सम्बन्धी चिन्तन को ध्यान कहा गया है। गोरक्षनाथ ने समाधि के विषय में बताते हुए कहा है कि — समस्त तत्त्वों की साम्यावस्थागत अनायस स्थिति ही समाधि है। इसी तरह से गोरक्षसंहिता, हठयोगप्रदीपिका में भी समाधि का वर्णन मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाथ-सम्प्रदाय में अष्टांग-योग की ही तरह षडंग योग की साधना को स्वीकार किया गया है।

इसके अतिरिक्त नाथ-सम्प्रदाय में नादसाधना का भी वर्णन मिलता है। हमें हठयोग प्रदीपिका में नादानुसन्धान का वर्णन स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है। इसकी चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है— आरम्भावस्था, घटावस्था,

परिचायवस्था तथा निष्पत्ति अवस्था इस प्रकार उपरोक्त षडंग साधना में हमें षट्कर्म, नादसाधना आदि का प्रभावशाली प्रतिपादन नाथयोग में प्राप्त होता है।

नाथयोगियों ने योग को जिस सशक्त रूप में प्रस्तुत किया उसका भारतवर्ष में लम्बे काल तक अक्षुण्य प्रभाव बना रहा। नाथयोग की सशक्त साधना का ही यह प्रभाव है कि आज आधुनिक युग में भी भारतवर्ष के अन्दर नाथ-सम्प्रदाय के अनेक जीवित, जागृत साधना केन्द्र उपलब्ध हैं, किन्तु भारतीय परम्परा के मध्यकाल में लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से लेकर सत्तरहवीं शताब्दी के अन्त तक भक्तियोग के दो समानान्तर साधन-मार्गों का विकास हुआ, जिनका प्रतिनिधित्व सगुण और निर्गुण सन्तों द्वारा किया गया। इसके अनन्तर सूफी संतों में भी योग परम्परा प्रचलित थी।

भारतीय परम्परा में योग की अनवच्छिन्नता आदि से अन्त तक दिखायी देती है। आधुनिक काल में भी श्री रामकृष्णपरमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महर्षि रमण और श्री अरविन्द जैसी विश्रुत योग-विभूतियों ने भारतीय योग-परम्परा की समुज्ज्वल कीर्ति को अक्षुण्य बनाये रखा है। श्रीरामकृष्णपरमहंस विविध साधनात्मक प्रयोगों के द्वारा यह प्रमाणित कर दिये हैं कि सभी साधनाओं और सभी धर्मों का मूल सत्य एक है। उनकी दृष्टियों में विरोध हो सकता है, किन्तु उनके प्राक्तव्य में या गन्तव्य में कोई भेद नहीं है। स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंस की भाँति साधना के समन्वयात्मक पक्ष पर बल दिया है। उन्होंने योग के आधार पर प्राप्त होने वाले समन्वय को ही मानवीय जीवन का आदर्श माना है। उनके अनुसार निवृत्ति-मार्ग का त्याग (वैराग्य) हमारी कर्म प्रवृत्ति को पवित्र बनाता है और प्रवृत्ति मार्ग का संत्कर्म तथा सेवा सदाचार आदि हमारे वैराग्य विवेक आदि को सम्पुष्ट करता है।<sup>76</sup> स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव स्वामी रामतीर्थ पर भी पड़ा था। स्वामी रामतीर्थ की योग साधना अद्वैत-वेदान्त का चरम लक्ष्य भी भगवत्प्राप्ति ही है, तथापि निर्गुण उपासना क्लेशयुक्त और कठिन मानती है तथा सगुण उपासना का उपदेश देती है। इस

प्रकार गीता का प्रपत्ति या शरणागत पर विशेष बल है। गीता मानव-जीवन में कर्म की उपयोगिता और अपरिहार्यता को स्वीकार करते हुए भी भक्ति को अन्तिम रूप से सभी ज्ञान और कर्म का अन्त मानती है। मनुष्य जीवन में ज्ञान के द्वारा एक ऐसी अवस्था में पहुँचता है, जहाँ अहम् और अज्ञान विगलित होने लगते हैं। इस अवस्था में केवल मनुष्य का हृदय ही उसकी सत्ता के समर्पण और उसकी सुरक्षा के लिये भक्ति को अपना आधार बनाता है। इसी तरह कर्म के मार्ग में भी मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्य के विचारों से ऊपर उठने पर अपनी श्रद्धा-भक्ति को ही अपने जीवन के विकास का मुख्य प्रेरक मान लेता है। मानववादी इसलिये कर्तव्य-कर्म या ऊँचे कर्म करना आवश्यक समझते हैं, क्योंकि उनके अनुसार इसके द्वारा वह मनुष्य जाति के विकास को सम्भव मानते हैं किन्तु ईश्वरवादी ईश्वर-भक्तों के कर्म को ईश्वरीय-अनुग्रह की प्राप्ति के लिये आवश्यक मानते हैं। गीता ने इस सन्दर्भ में दूसरे विकल्प को स्वीकार किया है। उसके अनुसार ईश्वर-भक्त ईश्वर को प्रसन्न करके ही अपने जीवन को सार्थक, पवित्र और ऊँचा बना सकता है। गीता ज्ञान, कर्म और भक्ति का भेद केवल लौकिक व्यवहार में ही स्वीकार करती है, क्योंकि उसके अनुसार ज्ञान, कर्म और भक्ति अपनी चरम अवस्था में अपरोक्षानुभूति में परिणत हो जाते हैं। गीता ने इन तीनों मार्गों का समन्वय करके साधना को सरल, सुबोध और सुगम बना दिया है। गीता के निकट अध्ययन से यह देखा और अनुभव किया जा सकता है कि गीता जो बात ज्ञानयोग के लिये कहती है, वही कर्मयोग के लिये कहती और वही भक्तियोग के लिये भी कहती है।

गीता ने ज्ञानयोग में कहा है कि "जो आत्मा को सम्पूर्ण प्राणियों में और सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मा में देखता है" वह ज्ञानयोगी है, कर्मयोग में कहा है कि "जो मनुष्य कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म का देखता है" वह कर्मयोगी है तथा भक्तियोग में कहा है कि "जो सब जगह मुझे देखता है और मुझमें सबको देखता है" वह भक्तयोगी है।" <sup>77</sup> इस प्रकार तीनों योगों में एक ही तरह की बात कहने

का तात्पर्य यह है कि साधक जिस योग का अधिकारी हो उस योग के तत्त्व को वह असन्दिग्ध रूप से समझ ले। ज्ञानयोग में आत्मा, कर्मयोग में अकर्म और भक्तियोग में भगवान् मुख्य हैं। ज्ञानयोग में "सर्वभूत" का अभाव और "आत्मा" का भाव रहता है। कर्मयोग में "कर्म" का अभाव और "अकर्म" का भाव रहता है तथा भक्तियोग में "सर्व" का अभाव और "भगवान्" का भाव रहता है। इस प्रकार गीता को जो आत्मा से अभिप्रेत है (ज्ञानयोगी) वही अकर्म (निर्लिप्तता) से अभिप्रेत है (कर्मयोग) और वही भगवान् से अभिप्रेत है (भक्तियोग) इसलिए गीता का सन्दर्श तीनों योग से एक ही है और इस एक सन्दर्श की अभिव्यक्ति एक साथ इन तीनों ही योगों से हुई है। गीता "अपने योगत्रय में तीन प्रधान साधन-मार्गों (ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग) का समन्वय करती हैं। वह यह बताती है कि एक में भगवत्प्राप्ति ही वह मुख्य वेदान्तिक सत्य है, जिसे इन तीन मार्गों में से किसी के भी द्वारा उपलब्ध किया जा सकता है।

### पातंजल योग का वैशिष्ट्य एवं लोकप्रियता

योग सम्पूर्ण सम्प्रदायों एवं मत मतान्तरों के पक्षपात से शून्य सार्वभौम धर्म है, जो स्वयं अनुभव द्वारा तत्त्व साक्षात्कार करना सिखाकर मनुष्य को अंतिम लक्ष्य तक पहुँचाता है। योग भारतीय दर्शन की सर्वाधिक प्राचीन एवं अधिकतम समीचीन सम्पत्ति है। यह सर्वसम्मत एवं अविस्वादी मन्तव्य है कि योग ही मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है। मनुष्य मात्र जिन उददेश्यों को समक्ष रखकर अग्रसर होता है, उन धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। ईश्वर की प्राप्ति हेतु विभिन्न दर्शनों ने अपने प्रखर ज्ञान रश्मियों के द्वारा हमारे मोक्ष मार्ग को स्वच्छ कर दिया है, किन्तु औषधि के नामोच्चारण मात्र से रोगी रोग मुक्त नहीं होता। उसके हेतु व्यवहारिक उपचार करना अनिवार्य है। इसी प्रकार केवल क्रियाहीन ज्ञान हमारे लक्ष्य की प्राप्ति में कथमडिप समर्थ नहीं हो सकती। काल्पनिक तत्त्व ज्ञान का व्यवहारिक

जीवन में उपयोग करने का विधान योग में किया गया है। प्रत्येक भारतीय दर्शन योग की योगोपदीष्ट प्रक्रियाओं से सहमत है।

जब तक विषयोन्मुख इन्द्रियों को विषयों से विरत करके अन्तर्मुखी न बनाया जाय तब तक सच्चे कल्याण की उपलब्धि नहीं हो सकती। सत्य मार्ग पर चलने के लिए आत्म संयम एवं चित्तशुद्धि परमावश्यक है। इनके हेतु योग दर्शन में अष्टांगों का विधान है। इनके समुचित अनुष्ठान से शरीर चित्त एवं इन्द्रियां शीघ्र ही निर्मल होकर तत्त्व साक्षात्कार हो जाता है। योगाभ्यास के विना असमाहित मन रहने पर केवल तत्त्वमसि एवं जीवो ब्रह्मैव नापरः इत्यादि महावाक्यों के पठन पाठन से अपरोक्ष आत्मज्ञान असंभव है। अतः चित्त को एकाग्र करने तथा तत्त्व साक्षात्कार हेतु योग साधना अत्यन्त आवश्यक है।

योग दर्शन की महत्ता एवं योग निर्दिष्ट प्रक्रियाओं का वर्णन श्रुति-स्मृति पुराणादि धार्मिक ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से उपलब्ध होता है। वैदिक काल भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम समय माना जाता है। संहिताओं एवं उपनिषदों आदि में योग का विशद वर्णन देखने से उसकी अत्यन्त प्राचीन काल से ही व्यापकता प्रकट होती है। इन साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त पूरा तत्त्व विद्या से भी योग विद्या की प्राचीनता सिद्ध होती है। मोहनजोदड़ो की खुदाई में योग मुद्रा अवस्थित मुर्तियों की उपलब्धि से उसकी प्राचीनता द्योतित होती है। बौद्ध ग्रन्थों में योग का विशद वर्णन मिलता है। बौद्ध धर्म के मौलिक सिद्धान्त 'धर्म-चक्र प्रवर्तन सूत्र' में है जिनमें अष्टांग योग (आर्यः अष्टांगिक मार्ग) प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में पतंजलि योग सूत्र का शब्दशः अनुकरण लक्षित होता है। बुद्ध ने योग निर्दिष्ट आसन प्राणायामादि पूर्वक समाधि साधना की थी, जिनमें समाधि को उन्होंने मोक्षोपयोगी सर्वोत्कृष्ट साधन माना है। जैन दर्शन गत योग के भी पाँच यम ही मुख्य साधन हैं जिनको अणुव्रत कहते हैं। वेदान्त दर्शन में ज्ञान के आन्तरिक साधन के रूप में योग सम्मत यमनियमादि का विधान है। दर्शनों के अतिरिक्त तन्त्रों में भी योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

योग में चित्तवृत्तियों के एकीकरण हेतु विभिन्न उपाय वर्णित हैं तथा शारीरिक एवं मानसिक उभयविध अनुशासन के सिद्धान्त निरूपित हैं। योग के अत्यन्त प्रारम्भिक साधन यमनियमों में ही न केवल उष्कृष्ट नैतिक प्रशिक्षण की शिक्षा दी गयी है अपितु विछुद्ध संवेगों को किस प्रकार उनके विरुद्ध विधानात्मक एवं रचनात्मक प्रवृत्तियों में परिणति करके शान्ति प्राप्त की जाती है इसका भी विधान है। इन नियमों के साधना से स्नायु संस्थान में अपूर्व शक्ति का संवर्धन होता है। आधुनिक मनोविज्ञानविदों ने भी स्नायु संस्थानीय विश्रान्ति की आवश्यकता का अनुभव किया है पर उनके द्वारा निर्दिष्ट मानसिक विश्रान्ति के उपाय योगोप उपायों की भांति गंभीर नहीं है किन्तु योग में आसन एवं प्राणायाम के द्वारा स्नायुपेशीय संस्थान की विश्रान्ति एवं मानसिक विक्षोभ के निराकरण की उष्कृष्ट व्यवस्था है।

पाश्चात्य दर्शनों में मनोविज्ञान ने आज विश्वव्यापी महत्त्वपूर्ण क्रांति उत्पन्न कर दी है, किन्तु महर्षि पंतजलि के पूर्ण निश्चित अकाट्य एवं नितान्त मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का पाश्चात्य विचारक भी लोहा मानते हैं। आधुनिक पाश्चात्य विदुषि श्री मती जी. क्रोष्टर ने 'योग एण्ड वेस्टर्न साइकालजी' में लिखा है कि पूर्व के मनोवैज्ञानिक मानव मस्तिष्क एवं भावनाओं के विषय में हम लोगों की तुलना में कहीं अधिक विशद एवं निश्चित जानकारी देते हैं तथा उसके विषय में कार्यकारणात्मक सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं। इस विषय में जितने भी प्रश्न गिनाये जा सकते हैं उन सभी का उनके पास सुस्पष्ट एवं सम्पूर्ण उत्तर विद्यमान है जो उन्हें सन्तुष्ट करता है और जिसको वे स्वयं ही प्रयोग द्वारा अनुभव भी कर सकते हैं। पौर्वात्य मस्तिष्क के लिए यह सब इतना सुलभ है कि वे उसे सिद्धान्त रूप में वर्णित कर सकते हैं। योग विद्या के सिद्धान्त चित्त से सम्बद्ध रोगों के अपाकरण में भी अत्यन्त्र उपयोगी है। अधिकांश रोग मानसिक होते हैं और उनके प्रभाव से शरीर में भी विकार उत्पन्न होता है। इस विषय में प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी विद्वान एकमत हैं। स्नायविक रोग तो पूर्णतः मन से सम्बद्ध है। अतः

निराकरण वाह्य शारीरिक चिकित्सा से नहीं अपितु मानसिक चिकित्सा से ही संभव है। इसीलिए योग में मानसिक अनुशासन पर सर्वाधिक बल दिया गया है। डा० के०टी० विदानन ने "योग" नामक ग्रन्थ में लिखा है कि योग एवं मनोविश्लेषण दोनों ही मानवीय चिकित्सा पद्धतियाँ हैं किन्तु उन दोनों में योग उच्चतर है।

आधुनिक भौतिक विज्ञान के अंतर्गत योग द्वारा अनुमोदित सत्कार्यवाद को स्वीकार किया गया है। विज्ञान के सूक्ष्मतम सिद्धान्तों में सत्कार्य-वादान्तरगत शक्ति परिणामवाद को ही मान्यता प्रदान की गयी है।

अतः योग केवल भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी व्याप्त है। इसकी उदारता व्यावहारिकता एवं वैज्ञानिकता तथा अलौकिक सिद्धियों ने विदेशों को आकर्षित किया है और वे भी भारत आकर योग विद्या का अभ्यास करते हैं। विदेशों में भारत के कतिपय योगियों का बुलाया जाना योग विद्या की महत्ता एवं व्यापकता का ही परिचायक है। लंदन अमेरिका आदि स्थानों पर हजारों योग केन्द्र स्थापित हैं ये केन्द्र प्रयोग शालाओं के रूप में खुले हैं तथा इनमें भारतीय योगियों एवं सन्यासियों के मागदर्शन में वहाँ के निवासी भारतीय साधना पद्धति से आसन प्राणायाम ध्यान आदि का अभ्यास करते हैं। यह इसके लोकप्रियता का कारण है।

### योग दर्शन का साहित्य एवं उनका संक्षिप्त परिचय

पतंजलि का योगसूत्र योग-सम्प्रदाय का प्राचीनतम पाठ्यग्रन्थ है। इस पर दो प्रकार की टीकायें लिखी गयी हैं। कुछ टीकायें व्याख्याप्रधान हैं और कुछ टीकायें वृत्तिप्रधान हैं। व्याख्याप्रधान टीकायें वे हैं जिनके प्रसंगानुसार पर-मत के खण्डन के साथ उदाहरण सहित सूत्रों के गूढ़ आशय को युक्तियों सहित स्पष्ट किया गया है। व्याख्याकार सूत्रों के अर्थ की सीमा में बँधा नहीं होता। वह पूर्वापर सूत्रों से संगत बैठाते हुए सूत्रनिष्ठ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार की विशद व्याख्यान शैली से यह लाभ होता है कि जिज्ञासु का शास्त्र के पद-पदार्थ सरलता से स्फुरित होते हैं और वह

सिद्धान्तों को आत्मसात् करने में समर्थ होता है। दूसरे प्रकार के वृत्ति-प्रधान टीकाग्रन्थों में वृत्तिकार सूत्रगत प्रत्येक शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने में ही अपनी कृतकृत्यता समझता है। वह लम्बी-चौड़ी योजना बनाकर परमत के खण्डन में अभिरुचि नहीं रखता। उसका लक्ष्य शास्त्र की गुत्थियों को सुलझाना नहीं रहता। इस प्रकार की अति संक्षिप्त टीकाओं से जिज्ञासु शास्त्र के मूल सिद्धान्तों को सुगमता से पकड़ (समझ) पाता है। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सूत्र के व्याख्यान के लिये दोनों प्रकार की प्रणालियों उपादेय एवं संग्राह्य हैं।

योगसूत्र पर सर्वप्रथम अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण "व्यासभाष्य" लिखा गया। यह अति विस्तृत एवं दुरुह ग्रन्थ है। महर्षि पतंजलि के अति संक्षिप्त सूत्रों में छिपी हुई उनकी व्यापक दृष्टि को परख पाने का वैदुष्य आचार्य व्यासदेव में था। यदि इस चतुर पारखी को योगशास्त्र का प्रमुख व्याख्याता कहें तो अत्युक्ति न होगी। इनकी पैनी बुद्धि ने योग के प्रत्येक सिद्धान्त को उहापोह के साथ प्रस्तुत किया है। आगे चलकर आचार्य वाचस्पति तथा विज्ञानभिक्षु सरीखे विद्वानों ने "व्यासभाष्य" पर विस्तृत व्याख्याएँ लिखीं। "व्यासभाष्य" पर आचार्य वाचस्पति मिश्र की "तत्त्ववैशारदी" नामक टीका मिलती है। परवर्ती विद्वानों में तत्त्ववैशारदी ने उतना ही समादर प्राप्त किया जितना व्यासभाष्य ने। वाचस्पति मिश्र का एकमात्र उद्देश्य महर्षि व्यास के योग सम्बन्धी दार्शनिक संदेशों की प्रामाणिक व्याख्या करना था। उन्होंने "तत्त्ववैशारदी" में कहीं भी व्यासदेव के विरुद्ध व्याख्यान नहीं किया है। इसीलिये "तत्त्ववैशारदी" "व्यासभाष्य" के अधिक निकट समझी जाती है। व्यासभाष्य पर दूसरी व्याख्या आचार्य विज्ञानभिक्षु की उपलब्ध है। इनके "योगवार्तिक" में जहाँ एक ओर भाष्यार्थ का स्पष्टीकरण दृष्टिगोचर होता है, वहाँ दूसरी ओर वाचस्पति मिश्रकृत व्याख्यान की यत्र-तत्र अप्रौढता, अप्रामाणिकता अर्थात् भाष्य विद्वता की चर्चा मिलती है। इनका "योगवार्तिक" आलोचना प्रधान ग्रन्थ है, विशुद्ध व्याख्याप्रधान ग्रन्थ नहीं। "योगवार्तिक" में सांख्य-योग-वेदान्त दर्शनों के समन्वय का प्रयत्न भी है। इस समन्वयात्मक कोण से उन्होंने भाष्य की

पंक्तियों का सामंजस्य स्थापित किया है। इन दोनों टीकाओं का निष्पक्ष भाव से पर्यवेक्षण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य वाचस्पति मिश्र की दार्शनिक बुद्धि कहीं भी व्यासभाष्य के भाष्य को समझने में चूकी नहीं है। वैसे व्यक्तिगत बुद्धि वैभव से दोनों टीकाओं में अपनी-अपनी विशेषता परिलक्षित होती है। "तत्त्ववैशारदी" पर राघवानन्द ने "पातंजल-रहस्य" नाम की टीका लिखी। इन्होंने आचार्य वाचस्पति मिश्र के मन्तव्य को सुस्पष्ट करने का भरसक प्रयास किया है और "तत्त्ववैशारदी" की पंक्तियों का ठीक-ठीक अर्थ लगाया है। अपने उद्देश्य को पूर्ण करने में ये सफल भी हुए हैं। इन तीन व्याख्या-ग्रन्थों के अतिरिक्त "व्यासभाष्य" पर हरिहरानन्द आरण्यक की "भास्वती" टीका है। अत्यन्त प्रवाहपूर्ण तथा सरल भाषा में व्यासभाष्य की पंक्तियों का स्पष्टीकरण "भास्वती" टीका में मिलता है। यद्यपि ये आचार्य मिश्र एवं भिक्षु के बाद के व्याख्याकार हैं, तथापि भिक्षु तथा मिश्र का नामोल्लेख करते हुए इन्होंने अपने ग्रन्थ को खण्डन-मण्डन-परक बनने नहीं दिया है। फिर भी वे मोन रूप से मिश्र की विचार-शैली से अधिक प्रभावित दिखलायी पड़ते हैं। इस प्रकार ऊपर वर्णित व्यासभाष्य तथा तदाधारित चार ग्रन्थों को आधुनिक इतिहासकारों ने व्याख्या-प्रधान टीकायें कहा है।

दूसरी तरफ पातंजलयोग पर सूत्रार्थ-प्रधान वृत्ति-ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। सामान्यतया भोजदेव के "राजमार्तण्ड," रामानन्द यति की "मणिप्रभा" तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती के "योगसुधाकर" के नाम ही अधिक परिचित हैं। आचार्य नारायण तीर्थ जैसे विद्वानों का योग-साहित्य में उचित प्रतिनिधित्व नहीं हो पाया है। इन विद्वानों ने पूर्वाचार्यों के महत्वपूर्ण संदेश को नवीन शैली में प्रस्तुत किया है। इन्होंने योग-परम्परा की रक्षा के साथ-साथ योग के नवीन सिद्धान्तों की स्थापना भी की है। आचार्य नारायणतीर्थ का यह वैदुष्य उनकी "योगसिद्धान्तचन्द्रिका" में अभिव्यक्त हुआ है। इनको दूसरा ग्रन्थ "सूत्रार्थबोधिनी" है। "योगसिद्धान्तचन्द्रिका" की अपेक्षा यह अत्यन्त लघु है। आचार्य नागेश भट्ट

ने योगसूत्र पर लघु एवं बृहत् दो टीकायें लिखी हैं। इनकी "बृहदयोगसूत्र वृत्ति" "योगवार्तिक" पर आधारित है और "लघुयोगसूत्र वृत्ति" पर "तत्त्ववैशारदी" का प्रभाव परिलक्षित होता है। इतना सब होते हुए भी विषय प्रतिपादन की शैली उनकी निजी है। भावागणेशकृत "योगदीपिका," भावागणेशीय योगसूत्र वृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है। भावागणेश विज्ञानभिक्षु के शिष्य थे। योगसूत्र पर अनन्तदेव पण्डित की "पदचन्द्रिका" नाम की वृत्ति भी मिलती है। योग की टीकाओं में "पदचन्द्रिका" लघुतम है। इसमें कुछ नवीन सूत्र उपलब्ध होते हैं, जो अन्य टीकाओं में नहीं हैं।

योग-साहित्य की सेवा करने वालों में आचार्य बलदेव मिश्र का नाम भी अविस्मरणीय है। इनका "योग दीपिका" नामक ग्रन्थ है। ये वाचस्पति मिश्र के अनुयायी प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त प्रकाशित टीकाओं के अतिरिक्त योग की कुछ अप्रकाशित टीकायें भी हमें प्राप्त हुई हैं, जैसे महामहोपाध्याय गोपाल मिश्र का "पातंजल-सूत्रविवरण", आचार्य सुरेन्द्रतीर्थ की कारिकामयी" टीका, षिमानन्द की "योगसूत्रवृत्ति" तथा भवदेव मिश्र की योगसूत्र की व्याख्या आदि। योग की इन अमुद्रित टीकाओं पर अनुन्धान किया जा रहा है। अभी तक पातंजल-योग पर इतना ही साहित्य उपलब्ध हो सका है।

## योग दर्शन के सिद्धान्तों का सामान्य परिचय

### योग—तत्त्व मीमांसा

पतंजलि का योग—दर्शन मुख्यतया चार्यप्रधान है। इसलिये इसमें दार्शनिक और तात्विक विषयों का प्रतिपादन बहुत अधिक अलग से नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें अलग से केवल उन्हीं दार्शनिक और तात्विक विषयों का विवेचन करने का प्रयास किया गया है जो मुख्य रूप से योग—चर्या के प्रधान तत्त्व हैं। योग सांख्य का सम्बद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय है। सांख्य और योग को एक ही सम्प्रदाय के दो रूप माना जाता है। सांख्य सिद्धान्तों या तत्त्वों का वर्णन करता है। योग उस तत्त्व—ज्ञान की प्राप्ति हेतु प्रयोगिक साधना का विवेचन करता है। सांख्य की तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञान—मीमांसा को योग प्रायः उसी रूप में स्वीकार कर लेता है, सांख्य के पच्चीस तत्त्वों तथा पत्यक्ष, अनुमान और शब्दरूपी प्रमाण—त्रयी को योग ने स्वीकार किया है। योग ने ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है।

अतः इसे सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। गीता में सांख्य को ज्ञान और योग को कर्म माना गया है तथा दोनों में एकता प्रदर्शित की गयी है।<sup>78</sup> दार्शनिक और तात्विक दृष्टि से पतंजलि का योग—दर्शन से जिन विषयों को विशेष रूप से सम्बद्ध माना गया है, उनमें चतुर्व्यूहवाद, परिणमवाद, स्फोटवाद, कर्म और अविद्या, बन्धन और मोक्ष कैवल्य तथा ईश्वर आदि प्रमुख हैं। अतः पतंजलि की योग—तत्त्व—मीमांसा के अन्तर्गत अब इन विषयों का एकोपरान्त एक विवेचन किया जायेगा।

चतुर्व्यूहवाद योगशास्त्र एवं चिकित्साशास्त्र का महत्वपूर्ण विषय है। चतुर्व्यूह शब्द का प्रयोग योग तथा रोग के सम्बन्ध में चार दृष्टिकोणों का प्रस्तुत करने के लिए किया जाता है। चिकित्साशास्त्र में रोग, रोगहेतु, आरोग्य और आरोग्योपाय (भैषज) को चतुर्व्यूह कहा जाता है। योगशास्त्र में दुःख (संसार), दुःख—हेतु

(संसार—हेतु), हान (मोक्ष) और हानोपाय (मोक्षोपाय), को चतुर्व्यूह कहा गया है।<sup>79</sup> इस प्रकार चतुर्व्यूह को योग एवं चिकित्साशास्त्र रूपी देह का मेरुदण्ड समझा जाता है। योगशास्त्र के चतुर्व्यूह अर्थात् हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय को दर्शनों के चार प्रतिपाद्य विषय के रूप में भी देखा और समझा जा सकता है। तत्त्वदर्शी के लिए यह जानना आवश्यक है कि दुःख का वास्तविक स्वरूप क्या है, जो “हेय” अर्थात् त्याज्य है (हेय), दुःखी कहाँ से उत्पन्न होता है, इसका कारण क्या है, जो “हेय” अर्थात् त्याज्य दुःख का वास्तविक “हेतु” है (हेयहेतु), दुःख का नितान्त अभाव क्या है अर्थात् “हान” किस अवस्था का नाम है (हान) और नितान्त दुःख निवृत्ति का साधन क्या है (हानोपाय)। इन चार प्रश्नों को दृष्टि में रखकर ही तत्त्वदर्शी योग में प्रवृत्त होते हैं। प्रथम व्यूह के अन्तर्गत हेय के अर्थ और स्वरूप को समझने की चेष्टा की जाती है। हेय में यह बताया जाता है कि जगत में सबसे अप्रिय वस्तु ‘दुःख’ है। दुःख का वरण करना कोई नहीं चाहता। इसे बलपूर्वक सभी अस्वीकार करते हैं। दुःख तीन प्रकार का है— आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। “हेय” व्यूह में महर्षि पतंजलि यह बतलाना चाहते हैं कि भूत, वर्तमान तथा भविष्य, सभी काल से सम्बन्धित दुःख है नहीं है। योग द्वारा नष्ट हुए अतीत दुःख तथा भोगारूप (भोगा जाता हुआ) वर्तमान दुःख के प्रति हेय—बुद्धि व्यर्थ है। मनुष्य अनागतकालीन दुःख के ऊपर ही विजय पा सकता है। अन्य दो कालों के दुःखों के समक्ष वह पराजित है। इस प्रकार दुःख से पूर्ण संसार की हेयता मनुष्य की समझ में आ जाती है। हेय—हेतु के अन्तर्गत मनुष्य यह समझने की चेष्टा करता है कि वह केवल तभी दुःखों का त्याग कर सकता है, जब उसे दुःख का मूल कारण ज्ञात हो। चेतन तत्त्व पुरुष और जड़तत्त्व बुद्धि का होनेवाला संयोग—विशेष ही संसार के दुःखों का कारण है। अविद्या के कारण पुरुष तथा बुद्धि जड़तत्त्व से अपने पृथक्त्व का ध्यान नहीं रख पाता। इसीलिए एक दूसरे के धर्मों में स्वत्व बुद्धि का प्रयोग होता है। अन्य शब्दों में पुरुष तथा बुद्धि जड़तत्त्व प्रकृति के विभिन्न धर्मों का अपने ऊपर आंरोपण करता

है और उनके प्रभावों और धर्मों को अपने अन्दर अनुभव करने लगता है। इसी दूसरे व्यूह हेयहेतु की अवतारणा की गयी है। तृतीय व्यूह हान के अन्तर्गत दुःख के नितान्त अभाव की अवस्था पर विचार करने का प्रयास किया गया है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग एवं रोगहेतु को बतलाने के पश्चात् आरोग्य पर विचार किया जाता है, उसी प्रकार योगशास्त्र में हेय एवं हेय-हेतु इन दो व्यूहों के पश्चात् "हानव्यूह" का प्रतिपादन किया गया है। कुछ व्याख्याकारों ने "हान" को "मोक्ष" व्यूह कहा है। इस व्यूह में यह बतलाया गया है कि मनुष्य को संसार में क्या छोड़ना है उसे किससे मुक्ति पानी है। बुद्धि एवं पुरुष के संयोग की कारणभूत अविद्या का क्षय होना "हान" है। अविद्या का भलीभांति नाश हो जाने पर इनका पुनः संयोग नहीं होता। बुद्धि से पुरुष की यही वियुक्तावस्था अर्थात् केवलावस्था "मोक्ष" कही जाती है।<sup>80</sup> चतुर्थ व्यूह हानोपाय का प्रतिपादन अविद्या के क्षय के साधन के रूप में किया गया है। "हान का स्वरूप जानने के पश्चात् हान स्थानीय अविद्या के क्षय के साधन के सम्बन्ध में जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है। महर्षि पतंजलि ने "अविप्लुतविवेकख्याति" को अविद्या के नाश का अचूक उपाय बतलाया है। इनकी दृष्टि में (अविद्या का नाश करने के लिए) प्रकृति पुरुष का भेद-ज्ञान ही अनुपम साधन है। यह परिपूर्ण उपाय सहज प्राप्त होने वाला नहीं है। इसकी प्राप्ति के लिए अष्टांग-योग की साधना अपेक्षित है। दर्शनों के चार प्रतिपाद्य विषय हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय पर विचार करते हुए चेतन तत्व- आत्मा, पुरुष (या जीव), जड़त्व- प्रकृति और चेतनतत्व- परमात्मा, पुरुषविशेष (ईश्वर, ब्रह्म) के स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है। जब हम यह विचार करते हैं कि दुःख किसको होता है, जिसको दुःख होता है उसका वास्तविक स्वरूप क्या है तो हम देखते हैं कि दुःख जीव का स्वाभाविक धर्म होता तो वह उससे बचने का प्रयत्न ही नहीं करता। इससे प्रतीत होता है जीव कोई ऐसा तत्व है जिसका दुःख और जड़ता स्वाभाविक धर्म नहीं है, वह चेतन-तत्व है। इस चेतन- आत्मा (पुरुष) के पूर्ण ज्ञान से चतुर्व्यूह का तीसरा व्यूह या तीसरा प्रश्न

“हान” सुलझ जाता है अर्थात् आत्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार— “स्वरूप स्थिति” से दुःख का नितान्त अभाव हो जाता है। जिस प्रकार विचारपूर्वक जीव के रूप में एक चेतन तत्व का अस्तित्व प्रमाणित होता है उसी प्रकार इस चेतन तत्व से भिन्न किसी एक ऐसे तत्व को मानने की भी आवश्यकता होती है, जिसका धर्म दुःख है, जहाँ से दुःख की उत्पत्ति होती है और जो इस चेतन तत्व से विपरीत धर्म वाला है। यह जड़ तत्व है, जिसको प्रकृति, माया आदि कहा गया है। इसके यथार्थ रूप को समझ लेने से पहले और दूसरे व्यूह के रूप में दोनों प्रश्न सुलझ जाते हैं अर्थात् दुःख जड़तत्व का स्वाभाविक गुण है, आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है। जड़ और चेतन तत्व में आसक्ति तथा अविवेकपूर्ण संयोग ही “हेय” अर्थात् त्याज्य दुःख का वास्तविक स्वरूप है तथा चेतन और जड़तत्व का अविवेक अर्थात् मिथ्या ज्ञान या अविद्या ही त्याज्य दुःख का कारण है (हेय—हेतु)। चेतन और जड़तत्व का विवेकपूर्ण ज्ञान “हानोपाय— दुःख निवृत्ति का मुख्य साधन है। इन दोनों चेतन और जड़तत्वों का मानने साथ एक तीसरे तत्व को मानना भी आवश्यक हो जाता है जो पहले चेतनतत्व के सर्वांश अनुकूल हो और दूसरे जड़तत्व के विपरीत हो। यह तीसरा तत्व ही वह परमात्मा, पुरुष विशेष, ईश्वर या ब्रह्म है, जिसमें पूर्ण ज्ञान रहता है, जो सर्वज्ञ होता है, जो व्यापक और सर्वशक्तिमान् होता है, जिसमें दुःख, जड़ता और अज्ञान का नितान्त अभाव होता है। यहाँ तक आत्मा का पहुँचना ही आत्मा का अन्तिम ध्येय होता है इस पूर्णज्ञान के भण्डार की प्राप्ति करके ही मनुष्य जड़—चेतन का विवेक प्राप्त करता है और अविद्या के बन्धनों का तोड़कर “हेय” दुःख से सर्वथा मुक्ति पा लेता है। इस प्रकार हमें तीसरे और चौथे व्यूह के अन्दर जो दो प्रश्न निहित हैं उनका उत्तर मिल जाता है अर्थात् ईश्वर ही दुःख के नितान्त अभाव की अवस्था है (हान) और ईश्वर ही दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का एकमात्र साधन है (हानोपाय)।

योग के व्याख्याकारों ने अविद्या और विवेकख्याति के लिए अष्टांग योग

किस प्रकार का कारण है इसे स्पष्ट करते हुए कारणवाद को प्रस्तुत किया है। प्रायः दर्शनशास्त्री उपादान एवं निमित्त कारण अथवा समवायि, असमवायि तथा निमित्त कारणों से ही परिचित होते हैं, किन्तु योगशास्त्रियों ने नौ प्रकार के कारणों की गवेषणा की है। अतः इसे विविध कारणवाद कहा गया है। इस अनुसंधान का पूरा श्रेय आचार्य व्यासदेव को है। वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु, नागेशभट्ट तथा हरिहरानन्द आरण्यक आदि ने आचार्य व्यासदेव द्वारा अनुसन्धित कारण—सिद्धान्त का स्पष्टीकरण तथा विशदीकरण किया है। योग नवविधकारणवाद में उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रतयय, आप्ति, वियोग, अन्यत्व तथा धृति आदि नौ कारणों को मानता है।<sup>81</sup> योगशास्त्र में कारण के उन नौ भेदों पर विस्तार से विचार किया गया है।<sup>82</sup> सत्कार्यवाद के अनुसार असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती और सत् पदार्थों का नाश नहीं होता। कारण—व्यापार से पूर्व भी कार्य कारण में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है। कारण—व्यापार के द्वारा कार्य की अभिव्यक्ति होती है। कारण—व्यापार के द्वारा कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार प्रकृति आदि अपने—अपने बुद्धि आदि कार्यों के प्रति “अभिव्यक्ति—कारण सिद्ध होती है। अब योग के अभिव्यक्ति—कारण के मूल आधार परिणामवाद पर विचार किया जायेगा।

परिणामवाद योगदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। यह योग के सृष्टि के सिद्धान्त की ओर संकेत करता है। परिणामवाद सांख्य एवं योग दोनों दर्शनों की आधारशिला है, किन्तु धर्मादि त्रिविध परिणामों का सूक्ष्म विवेचन एकमात्र पातंजल—योग में ही उपलब्ध होता है। परिणामवाद के विवरण से सृष्टि—प्रक्रिया के सम्बन्ध में अनेक वादों में से सत्कार्यवाद की उपादेयता और दोषशून्यता भी उद्घाटित होती है। योग की जड़ “प्रकृति” परिणामशीला है। “परिणाम” शब्द का सामान्य अर्थ “परिवर्तन” तथा पारिभाषिक अर्थ “अवस्थान्तर” है, अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त करना ही परिणामी का परिणाम है। सत्त्व, रजस् तथा तमस् “प्रकृति” के घटक हैं। सत्त्व आदि गुणों से अतिरिक्त प्रकृति

नहीं है। अर्थात् सत्त्व आदि से प्रकृति का निर्माण होता है, ऐसी बात नहीं है। सत्त्वादि में प्रकृति की निर्मातृता नहीं, अपितु तद्रूपता है। योग के आचार्यों के अनुसार त्रिगुणमयी प्रकृति के अन्दर दो परिणाम होते हैं— पहला रूप परिणाम दूसरा विरूप परिणाम। प्रकृति के सरूप परिणाम का सम्बन्ध सृष्टि की प्रलयावस्था से है। जब प्रकृति के गुण अपने आप में ही परिवर्तन या परिणाम को उत्पन्न करते रहते हैं तब प्रकृति के अन्दर सरूप परिणाम होता है और प्रकृति की प्रलयावस्था बनी रहती है किन्तु जब प्रकृति के गुण संक्षुब्ध होकर एक— दूसरे को प्रभावित और अभिभूत करने लगते हैं तब प्रकृति में विरूप परिणाम उत्पन्न होता है और प्रकृति सृष्टि करने लगती है। “सृज्यत इति सृष्टिः” अर्थात् सृजन का नाम सृष्टि है। सृजन तत्वों का होता है। इस प्रकार जिसमें तत्वों की सर्जना हो वही सृष्टि है। ऊपर सृष्टिकाल में प्रकृति का “विरूप परिणाम” कहा गया। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति का “विरूप परिणाम” महत्अहंकार आदि तत्वों की सृष्टि से सम्बन्धित है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति विरूप परिणाम के द्वारा सर्वप्रथम बृद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से ग्यारह इन्द्रियां तथा पांच तन्मात्रायें और तन्मात्राओं से पाँच महाभूतों को उत्पन्न करती हैं। सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण तथा योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि महत् से महाभूतपर्यन्त प्रकृति का परिणाम बतलाकर मौन हो जाते हैं। व्याख्याकारों के अनुसार इस मौन का कारण यह है कि महाभूत से आगे गो, घट, पट, आदि वाला जो परिणाम है वह तत्त्वान्तर परिणाम न होकर धर्म, लक्षण एवं अवस्था का परिणाम है। ये तीन प्रकार के परिणाम बाह्य जड़ जगत् तथा आन्तरिक चित्त जगत् में सर्वत्र पाये जाते हैं। बाह्य जड़ जगत् में जो परिणाम होता है उसे धर्मपरिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम कहते हैं। तथा आन्तरिक चित्त जगत् में जो परिणाम होता है, उसे निरोध, परिणाम, समाधि परिणाम तथा एकाग्रता परिणाम कहते हैं। योगशास्त्र में समाधिसम्पन्न चित्त के बताये गये इन तीन परिणामों से समाधि प्राप्त चित्त से अन्दर भी परिणाम उपलब्ध होता है। साधना— क्रम से समाधि प्राप्त चित्त का पहले समाधि परिणाम, मध्य

में एकाग्रता परिणाम तथा सबसे अन्त में निरोध परिणाम होता है। इस प्रकार योग के सभी व्याख्याकारों ने समाधि—विशिष्ट चित्त के तीन प्रकार के परिणाम स्वीकार किये हैं। लेकिन योग की किस—किस अवस्था में चित्त इस तीन प्रकार के परिणामों से युक्त होता है, इस बिन्दु पर आकर व्याख्याकारों में मतभेद दिखलायी पड़ता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र आदि के अनुसार चित्त का सम्प्रज्ञात समाधि की प्रारम्भिक अवस्था में “समाधि परिणाम” सम्प्रज्ञात से सुदृढ़ होने पर “एकाग्रता परिणाम” तथा असम्प्रज्ञात में “निरोध परिणाम” होता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु आदि ने अष्टांग—योग वाली समाधि के अभ्यास — काल में चित्त का “समाधिपरिणाम” इसी समाधि की परिपक्व अवस्था में चित्त का “एकाग्रता परिणाम” तथा सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात की दशा में चित्त का “निरोध परिणाम” माना है।

योग की तात्त्विक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत अन्यान्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त स्फोटवाद का भी प्रमुख स्थान है। यद्यपि स्फोटवाद वैयाकरणों का मुख्य सिद्धान्त है और महर्षि पतंजलि इसके प्रथम आविष्कर्ता हैं, तथापि व्याकरण महाभाष्य के सिद्धान्तों पर आधारित महर्षि पतंजलि के उद्भट मेधा ने योगशास्त्र को अनुशासन करते हुए भी उसके तृतीय पाद के संयम (धारणा, ध्यान एवं समाधि)—जन्य सिद्धियों के प्रकरण में शब्द अर्थ एवं प्रत्यय का इतरेतर—अध्यास (कल्पित तादत्म्य) के सन्दर्भ में स्फोटतत्त्व की ओर संकेत किया है।<sup>83</sup> योगसूत्र में छिपे सिद्धान्त को आचार्य व्यासदेव प्रकाश में लाये तथा भाष्य के व्याख्याकार आचार्य विज्ञानभिक्षु, आचार्य वाचस्पति मिश्र, हरिहरानन्द आरण्यक तथा सूत्र के व्याख्याकार नागेश भट्ट आदि द्वारा वह स्पष्टीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सरल बनाया गया है। इस प्रकार स्फोटवाद योगदर्शन का भी मुख्य सिद्धान्त है। स्फोट के द्वारा किस रूप में अर्थ का ग्रहण होता है, इसकी समस्या शब्द को सुनकर श्रोता को जो अर्थ का ज्ञान होता है उसे शब्द प्रमाण कहते हैं। प्रश्न यह है कि शब्द आशु—विनाशी है (शब्द उच्चरित होने के साथ तत्काल नष्ट हो जाता है), वह

किस प्रकार श्रोतेन्द्रिय का विषय बनकर अर्थ का अवबोध करा सकता है इसी समस्या के समाधान के लिये स्फोट के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। “स्फुटतिव्यक्तीभवति अर्थोऽस्मादिति स्फोटः” अथवा “स्फुटयते त्र अभिव्यज्यते वर्णरिति स्फोटः” इन दो व्युत्पत्तियों के अनुसार जिससे अर्थ स्फुट होता है अथवा जिससे वर्ण अभिव्यंजित होकर अर्थ प्रतीत का जनक होता है उसे स्फोट कहते हैं। शब्द के तीन रूप हैं – वर्ण, ध्वनि एवं पद। इनका ग्रहण भिन्न-भिन्न इंद्रियों के द्वारा होता है। “वर्ण” वागिन्द्रिय (उर, कण्ठ आदि) का विषय है। उर, कण्ठ आदि आठ स्थानों से वर्ण की अभिव्यक्ति होती है। ध्वनि (ध्वन्यात्मक शब्द) श्रोतेन्द्रिय (कान) का विषय है। ध्वनि (नाद) के वर्ण और अवर्ण दो रूप हैं। शब्द का तीसरा भेद पद बुद्धि का विषय है। पद बुद्धि ग्राह्य है, अन्य शब्दों में वर्णों के एकत्व की संयोजना करनेवाली बुद्धि पद को ग्रहण करती है। “गोः” इत्यादि शब्द से होनेवाले अर्थ ज्ञान के समय बुद्धि “ग” “ओ” तथा विसर्ग (:) के क्रम से प्रत्येक को ग्रहण करके पीछे से “गो त्र यह एक पद है”, इस प्रकार वर्णों के एकत्व का प्रतिपादन करती है, जिससे अर्थ का अवबोध होता है। इससे यह निष्कर्ष प्राणित होता है कि वर्ण व्यतिरिक्त (वियुक्त), एक प्रयत्नजन्य नादाभिव्यंजित, अन्तःकरणग्राह्य ध्वनि विशेष ही वाचक है और यह अर्थ-प्रत्यायन (अर्थ को प्रमाणित करनेवाला) का हेतु होने से स्फोट कहा जाता है। जिस प्रकार पद स्फोट होता है उसी प्रकार वाक्य-स्फोट भी होता है।

तत्त्वमीमांसा का विशेष सम्बन्ध, जीवन और जगत् को प्रभावित करने वाली अविद्या और उससे प्रेरित तथा प्रभावित होनेवाली मनुष्य की कर्मशक्ति से होता है।

तात्त्विक दृष्टि से जीवन और जगत् के स्वरूप को समझने के लिये अविद्या और कर्म के स्वरूप को पहले समझना आवश्यक है। अविद्या में जड़-चेतन के अभेद-निबन्धनक संसार को घटित करने की शक्ति होती है। जड़ होते हुए भी यह अपनी सम्मोहिनी शक्ति से चेतन पुरुष को सम्मूर्च्छित करती है। पुरुष की

सम्मूर्छना का अर्थ अपने स्वरूप के विस्मरणपूर्वक दूसरे के स्वरूप का यथोचित बोध न होना होता है। अथार्थ ज्ञान का अभाव ही दुःख का मूल है अतः योग में अविद्या को क्लेश शब्द से व्यक्त किया गया है। शक्तिशाली अविद्या से चार क्लेशदायिनी शक्तियों का आविर्भाव होता है। अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश अविद्या की चार शक्तियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक की चार-चार अवस्थायें हैं। प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार। योग में "अविद्या" (विपर्यय ज्ञान-वासना) को विद्या का अभावरूप नहीं माना गया है। यह ज्ञान-विरोधी भाव-पदार्थ है। अविद्या न तो प्रमाण है, न प्रमाणाभाव है, अपितु विद्या से विपरीत अन्य ज्ञान है। पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को आवृत्त करना अविद्या का काम है। अविद्याग्रस्त प्राणी को अनित्य पदार्थों में नित्यता की भ्रान्ति अशुचिपूर्ण पदार्थों में शुचिता की भ्रान्ति, दुःख से युक्त पदार्थों में सुखप्रदातृता की भ्रान्ति तथा अनात्म में आत्मत्व की भ्रान्ति होती है। इस प्रकार की भ्रान्ति में पड़ा हुआ मनुष्य संसार में अज्ञानी पुरुषों की तरह अपना जीवनयापन करता है। अविद्या के इस भ्रान्तिपूर्ण व्यापार से ग्रस्त होकर मनुष्य जो कर्म करता है उससे वह संसार के आवागमन के चक्र में पड़ा रहता है। योग का कर्मवाद पुनर्जन्मवाद की भित्ति पर स्थित है। महर्षि पतंजलि के अनुसार मनुष्यों द्वारा किये जाने वाले कर्मों की चार श्रेणियाँ हैं - कृष्ण कर्म, शुक्ल कर्म, शुक्ल-कृष्ण अर्थात् मिश्रित कर्म तथा अशुक्ल-अकृष्ण कर्म। तमोगुण की प्रचण्ड अवस्था में मनुष्य पापकर्म करता है। तमस आवरण स्वरूप है। इसलिये उसके कार्य को "कृष्ण" कहा गया है। सत्त्वगुण की उत्कट अवस्था में व्यक्ति शुभ कर्म करता है। सत्त्वगुण प्रकाशक अर्थात् शुभ होता है, इसलिये उसके कार्य को शुक्ल कहा जाता है। इस प्रकार कृष्ण एवं शुक्ल शब्द प्रायः एवं पण्य अर्थ में परिभाषित हैं। अधम कोटि की पापी दुरात्माएँ "कृष्ण कर्म" ही किया करती हैं। सात्विक चित्तवाले तपस्वी, स्वाध्यायी तथा योगाभ्यास-निरत पुरुष "शुक्ल कर्म" ही किया करते हैं। मध्यम कोटि वाले व्यक्ति अवसरके अनुसार, जिसमें गुणों की मात्रा घटती बढ़ती रहती है, "शुक्ल" तथा "कृष्ण" दोनों प्रकार के कर्म

करते हैं। सर्वोच्च कोटि की जीवनमुक्त आत्माएँ, जो पूर्ण रूप से निःस्पृह हैं, अशुभ कर्म करती ही नहीं हैं और जो शुक्ल कर्म करती भी हैं, वे कर्मफल-भावना से रहित होकर किये जाने से अशुक्ल माने जाते हैं। इस प्रकार इनको कर्मराशि "अशुक्ल-अकृष्ण" कही जाती है। पहले तीन प्रकार के कर्मों से कर्माशय का हेतु संचित होता है। चौथे प्रकार का कर्म-कर्माशय का हेतु नहीं है। अर्थात् प्रथम तीन प्रकार के कर्मों से ही फल की उत्पत्ति होती है। अशुक्ल-अकृष्ण कर्म का फल नहीं होता। व्यक्ति को अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल तुरन्त प्राप्त हो, यह आवश्यक नहीं, अपितु निकट भविष्य से लेकर जन्म-जन्मान्तरपर्यन्त वह कभी भी फलोन्मुख हो सकता है। कर्ता को फलोपभोग कराये बिना कर्म का क्षय भी नहीं होता। इस प्रकार भोग द्वारा ही कर्म का क्षय होने से तथा उसके फलदान की अवधि निश्चित न होने से सभी भारतीय दार्शनिकों ने एक मध्यवर्ती व्यापार की कल्पना की है। योगशास्त्र में इसे "कर्माशय" (कर्म जनित शुभाशुभ संस्कार) कहा गया है। अन्य दर्शनों में यह "अदृष्ट", "अपूर्व", "आश्रव" तथा "अविज्ञप्ति" आदि नामों से अभिहित किया गया है। अब यहाँ कृत कर्म और जीवन के सन्दर्भ में एक जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है कि क्या एक कर्म एक जन्म का कारण है अथवा एक कर्म अनेक जन्मों का कारण है अथवा अनेक कर्म युगपत् अनेक जन्मों के कारण हैं, अथवा अनेक कर्म एक जन्म के कारण हैं। इन चार विकल्पों में से पहले तीन में शास्त्रीय एवं लौकिक असंगतियों की गवेषणा करके व्याख्याकारों ने चौथे पक्ष को ही सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया है। एक ही समय में बहुत से जन्मों का होना सम्भव नहीं है, इसलिये तीसरा विकल्प त्याज्य है। पहले दो विकल्पों के अनुसार फल-प्राप्ति में अत्यन्त विलम्ब जानकर व्यक्तियों की शुभ कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति न हो सकेगी, जिसे फलस्वरूप समाज में अनुशासनहीनता फैलेगी। अतः पहले दो विकल्प भी संग्राह्य नहीं हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जन्म और मरण के मध्य में व्यक्ति के द्वारा किये गये कर्मों से संचित हुआ कर्माशय आगामी एक जन्म का कारण

होता है। इस प्रकार योगशास्त्र की "कर्म—मीमांसा" अत्यन्त स्वाभाविक है।

संसार वृत्तिनिरोध के पूर्व की अवस्था है और कैवल्य वृत्तिनिरोध के बाद की अवस्था है। संसार का परिचय अविद्या और कर्म के स्वरूप तथा प्रभाव से मिलता है और कैवल्य का परिचय पुरुष के बन्धन और मोक्ष से मिलता है। बन्धन और मोक्ष के विषय में योगशास्त्र की वही मान्यता है जो सांख्य और गीता की मान्यता है। बन्धन और मोक्ष वास्तव में प्रकृति के कार्य चित्त में होते हैं। पुरुष स्वयं स्वरूप से सदा असंग है, वह न बद्ध होता है और न मुक्त होता है। इसलिये साक्षात् न कोई बद्ध होता है और न कोई छूटता है, न कोई जन्म—जन्मान्तर में घूमता है। प्रकृति ही नाना (देव, मनुष्य, पशु आदि शरीरों में) आश्रयवाली घूमती, बँधती और छूटती है। सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के द्वारा किये हुये हैं (तो भी) अहंकार से मोहित हुए अन्तःकरणवाला पुरुष "मैं कर्ता हूँ" ऐसा मान लेता है। परन्तु हे महाबाहो! (गुणविभाग) पाँच स्थूलभूत, पाँच तन्मात्रायें, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच शब्दादि विषय, मन, अहंकार, बुद्धि, चित्त (और कर्मविभाग) इनकी परस्पर की चेष्टायें के तत्त्व को जाननेवाला ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण गुण गुणों में बर्त रहे हैं, ऐसा जानकर आसक्त नहीं होता। अज्ञान जो बन्ध का कारण और ज्ञान जो मोक्ष का कारण है तथा धर्म—अधर्म जो संसार के कारण हैं—ये सब बुद्धि में होता है, न कि अपरिणामी पुरुष में। इसलिये इनका फल बन्ध मोक्ष और संसार का भी साक्षात् सम्बन्ध बुद्धि में भेद होता है। पुरुष सदा बन्ध, मोक्ष और संसार में भी एकरस रहता है। बुद्धि में भेद होता है। अज्ञान में जो अवस्था बुद्धि की होती है, ज्ञान में उससे भिन्न हो जाती है। पुरुष बुद्धि का द्रष्टा होने से बुद्धि के आकार से अपने को भिन्न न समझने के कारण उन अवस्थाओं को अपनी अवस्थायें समझ लेता है, किन्तु वास्तव में वे अवस्थायें उसकी नहीं, बुद्धि की हैं। इसलिये बन्ध, मोक्ष और संसार का सम्बन्ध बुद्धि से है जो प्रकृति का रूपान्तर है।

## योग—मनोविज्ञान

पतंजलि योग में आत्मसाक्षात्कार के साधनों की चर्चा के पूर्व चित्त की वृत्तियों के निरोध की बात कही गयी है। वस्तुतः चित्त की वृत्तियों और भूमियों ही योग के साधक के विकास में सहायक या अवरोधक होती हैं अतः योग—मनोविज्ञान के अन्तर्गत योग—साधना के पूर्व इनके अर्थ, महत्व और प्रभाव को अच्छी प्रकार समझ लेना आवश्यक है। यहाँ योग—मनोविज्ञान की चर्चा पतंजलि के योग—दर्शन के सन्दर्भ में करते हुए केवल चित्तवृत्ति और उसकी भूमियों के संक्षिप्त विवरण तक ही सीमित रखी जा रही है, जिससे पुनरावृत्ति का दोष उत्पन्न न हो। पतंजलि ने योग को चित्तवृत्ति निरोध बताया है। चित्तवृत्तियों का निरोध समाधि में होता है, अतः योग को समाधि भी कहा गया है। चित्त का अर्थ है अन्तःकरण। इसमें सांख्य सम्मत बुद्धि, अहंकार और मन तीनों आ जाते हैं। योग में बुद्धि, अहंकार और मन इन तीनों को मिलाकर “चित्त” नाम दिया गया है। चित्त (बुद्धि रूप में जिसके अन्तर्गत अहंकार और मन भी आ जाते हैं) प्रकृति का प्रथम प्रसूत तत्व है तथा इसमें सत्व गुण का प्राधान्य है। चित्त अचेतन होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म है और पुरुष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है। पुरुष चित्त में प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझ लेता है। पुरुष के चैतन्य से प्रकाशित होने पर जड़ चित्त चेतनवत् प्रतीत होता है और निराकार तथा विभु पुरुष साकार तथा सीमित जीव के रूप में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के रूप में प्रतीत होता है। चित्त संसार में शुद्धचैतन्स्वरूप पुरुष की अभिव्यक्ति का माध्यम है। आग में खूब तपा हुआ लोहे का गोला अग्नि का गोला लगने लगता है। ठंडा लोहे का गोला प्रतप्त अग्नि—गोलक बन जाता है और निराकार अग्नि साकार तथा सीमित गोलक का रूप ले लेती है। इसी प्रकार चेतन पुरुष के संसर्ग में से अचेतन चित्त के संसर्ग से साकार, सीमित और अनित्य जीवचैतन्य के रूप में प्रतीत होता है। यही पुरुष का बन्ध और संसरण है। जब पुरुष सम्यक् ज्ञान द्वारा चित्त में अपने प्रतिबिम्ब से अपना तादात्म्य हटा लेता है और चित्त को प्रकृतिजन्य

अचेतन एवं अपने से सर्वथा विपरीत जान लेता है, तब पुरुष—चैतन्य का प्रकाश चित्त से हट जाता है। उस दशा में चित्तवृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध हो जाता है तथा चित्त अपनी जननी प्रकृति में विलीन हो जाता है, एवं पुरुष अपने विशुद्ध चैतन्य—स्वरूप में प्रकाशित होता है। यह पुरुष का स्वरूपावस्थान अर्थात् मोक्ष है।

## संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. योगो ही प्रभवाधयौ—2.3.11
2. कठोपनिषद्, 6.11.18 श्वेताश्वतर, 2.8.2
3. मोहनजोदड़ों एण्ड द सिविलिजेशन, पृ० 52—53
4. The dietination between Aryan and Un Aryan on which so much has been built. Seems on the mass of the evidence to indicatè a cultural rather than recial diggerence.

'On the Veda P.24 (Maharshi Arbindo)

5. R. Chanda, Memories of Archaeological Survey of India, No. 11, P. 33-34
6. वायुपुराण, 11, 15—16
7. श्री वी०आर० रामचन्द्र दीक्षितार एम०ए०, "पाशुपत योग का प्रारम्भिक इतिहास" योगांक (कल्याण), पृ० 237
8. श्रीमद्योगाचार्य श्रीमन्मौक्तनाथजी नैरंजन, पातंजल योगदर्शन की प्राचीनता, योगांक, पृ० 255
9. ऋग्वेद, 1.121.1, यजु०अ० 13, मन्त्र 4
10. महाभारत, 2.294.65
11. गरुणपुराण, 1.227.4
12. छान्दोग्योपनिषद् 3.11.4
13. गीता, 4/1—3
14. "यस्मादूते न सिध्यंति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति"  
—ऋ०म० 1. सूक्त 18, मंत्र 7
15. "स धा नो योग आभुवत स राये स पुरंध्याम्। गमद् वाजेभिरासनः"  
—ऋ० 1.53, साम० 301, 2.10.3, अथर्व० 20.69.1

16. "योगे यो तवस्तरं वाजे वाजे ह्वामहे । सवायं इन्द्रभूतये"

—ऋ० 1.30.7, सा०उ० 1.2.11, अथर्व० 19.24.7

17. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।"

— वृहदारण्यकोपनिषद् के मैत्रेयी ब्राह्मण में— 2.4.5

18. अथर्ववेद, 1.34.3

19. वही, 11.5.7, 10.24

20. ऋग्वेद 5.59.2

21. यजुर्वेद, 40/2

22. वही, 19/30 पर स्वामी दयानन्द सरस्वती का भाष्य ।

23. वृहदारण्यक उपनिषद्, 3.7.2

24. वही, 3.5.1 तथा 4.4.19

25. प्रश्नोपनिषद्, 1.2 पर शोकरभाष्य

26. वृ०उ०, 2.4.5, 4.5.6

27. लघुत्वयारोग्यम् लोलुपत्वं, वर्णप्रसादं स्वसौष्टवं च ।

गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्यं, योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥

—श्वेता०, 2.10.13

28. न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।

—श्वेता० 2.12

29. तैत्तिरीय उप०, भृगुवल्ली, द्वि० अनुवाक्

30. "अध्यात्मं योगाधिगमेन देवं, मत्वा धीरो हर्षशोको जहाति"

—कठ० 1.2.12

31. कठ०, 1.3.13

32. श्वेता०उप०, 1.3

33. वही, 2.8-9

34. श्रीमद्भागवतपुराण, 2.1.18

35. वही, 1.6.30
36. श्रीमद्भागवतान्तर्गत एकादश स्कन्ध, हिन्दी अनुवाद, मुनिलाल, गीताप्रेस, गोरखपुर।
37. वायुमहापुराण, अनु० श्रीरामप्रताप त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग संवत् 2007
38. श्रीरामशंकर भट्टाचार्य, इतिहास—पुराण का अनुशीलन, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी, 1963, पृ० 99—108
39. श्रीमद्भागवतपुराण, 1.6.16—17
40. वही, 1.6.20
41. श्रीमद्भागवतपुराण 1.7.3.4
42. विष्णुपुराण, 6.7.36—38
43. के०ना०वर्मा, श्रीअरविन्द और उनकी साधना, (भाग—2)  
पृ० 235—36
44. ब्रह्मसूत्र पर श्रीकण्ठाचार्य के “शैवभाष्य” की “शिवाकर्मणिदीपिका की व्याख्या में दीक्षित ने आगम को दो प्रकार का माना है—वैदिक और अवैदिक।
45. बलदेव उपाध्याय—“भारतीय दर्शन” पृ० 436
46. “शैववैष्णवदांगार्कगणपत्यादिकैः क्रमात्। मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते”—कुलार्णवतन्त्र, द्वितीय उल्लास।
47. कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।  
कुलाकुलस्य सम्बन्धः कौलभित्यभिधीयते ॥ — स्वच्छन्दतन्त्र, योगांक, पृ० 175
48. श्रीअरविन्द ने अपनी पुस्तक “द मदर” में भगवती के मातृसत्तात्मक पक्ष का बहुत ही सुन्दर और पूर्ण व्याख्या की है।
49. भोगो योगायते साक्षात् पातकं सुकृतायेत मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरी।  
—कुलार्णव, 2.24
50. श्रीवाल्मीकिरामायण, (प्रथम भाग), गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ० 194 श्लोक 33, पृ०

- 504, श्लोक 6, पृ0 759, श्लोक 16-17, (भाग-2) पृ0 991, श्लोक 34
51. श्रवणं, कीर्तनं, विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्  
अर्चनं, वन्दनं, दास्यं, सख्ययात्मनिवेदनम् । - योगांक, पृ0 364  
(इसका वर्णन श्रीमद्भागवत में स्पष्ट आया है)
52. एको योगस्तया ज्ञानं संसारोत्तरणक्रमे ।  
समावुपायोद्वावेद प्रोक्तावेकपलदौ ।।  
असाध्यः कस्यपिद्योगः कस्याचिज्ज्ञाननिश्चयः ।  
ममत्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञान निश्चयः ।  
- योगवाशिष्ठ, निर्वाण-प्रकरण, सर्ग 13.7-8
53. योगवाशिष्ठ, नि0 प्र0 सर्ग 39.27-30
54. धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ  
यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ।  
- डॉ0 बलदेव उपाध्यायकृत संस्कृत "वाङ्मय,"  
शारदा मन्दिर, बनारस (1954), पृ0 25
55. महाभारत (उद्योगपर्व, भीष्मपर्व और शान्तिपर्व) - गीताप्रेस के प्रकाशन
56. महाभारत, षष्ठ खण्ड, पृ0 5775
57. अहिसंकः समः सत्यो धृतिमान निघतेन्द्रियः  
शरणयः सर्वभूतानां गतिमाप्नोत्यनुत्तमाम् ।  
- महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 262.20
58. महाभारत, शान्तिपर्व, 62.9
59. क-मोक्षेण योजनादेव योगो यत्र निरुच्यते -  
- श्री यशोविजयकृता "द्वात्रिंशिका", 10.1  
ख-मुखेण जोयजाओं जोगो - (श्री हरिभद्रसूरिकृता, योगविशंका-1)
60. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, प्र0 भा0, द्वि0 अनुवाद, पृ0 264
61. डॉ0 ज्योति प्रसाद जैन (द्वारा उद्धृत) जैनिज्म द ओल्डेस्ट रेलिजन, पेज 49 एण्ड

62. उमास्वाती, त0सू0 6.6

63. इस चतुरायामी संवरयोग के व्रत के साथ पातंजल योग के यम का, इन्द्रियव्यापार के निरोध के साथ प्रत्याहार का, अक्रियत्व के साथ ध्यान और समाधि का साम्य है।

64 श्री रमाशंकर त्रिपाठी ने अपने लेख – “भगवान बुद्ध और उनकी साधना” में “आलारकालाम” और “रुद्रक रामपुत्र” नाम के दो गुरुओं का उल्लेख किया है, जिनसे बुद्ध ने क्रमशः “आर्किचन्यापतन समापित्त” और “नैवसंज्ञानासंजापतन समापित्त” की देशना ली थी।

— बौद्ध साधना का इतिहास, पृ0 2

65. योगसूत्र, 1.5

66. न्यायसूत्र, महर्षि गौतम, 4.2.46

67. समाधि विशेषाभ्यासात्, — वही, 4.2.38

68. वैशेषिकसूत्र, कयाद 6.2.16 पर चन्द्रकान्तभाष्य।

69. वैशेषिकसूत्र, म0 कणाद, 9.1.13

70. आचार्य बलदेव उपाध्याय, “भारतीय दर्शन” पु0 397

71. नाकारोऽनादि रूप धकारः स्थाध्यते सदा।

भुवनत्रयमेवेकः श्रीगोरक्ष नमोस्तुते — राजगुदयतंत्र

72. योगीन्द्र स्वात्मारयः हठयोग प्रदीपिका, 1.1

73. आसनं, प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।

ध्यानं समाधिरेतानि योगङ्गानि वदन्ति षट्।

— गोरक्षशतक, 7

74. सिद्धसिद्धान्त पद्धति, 2.34

75. विवेकमार्तण्ड, 160—62

76. डॉ० ह० महेश्वरी, "स्वामी विवेकानन्दः जीवन और दर्शन", प्रकाशन श्रीरामकृष्ण मिशन  
सेवाश्रय, वृन्दावन, 1967, पृ० 85—86
77. स्वामी रामसुखदास, गीता—दर्पण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 97
78. लोकेऽस्मिन्निविध निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानध।  
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिताम्  
—गीता, 3.3
79. यथा चिकित्साशास्त्रं रोगो रोगहेतुः आरोग्यं भेषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं  
चतुर्व्यूहमेव तद्यथा—संसारः, संसारहेतुः मोक्षो, मोक्षो पाय इति—व्या०भा०, पृ० 185
80. तदभावात् संयोगाभावो हानं तददृशे कैवल्यम्।  
—योगसूत्र, 2.25
81. व्यासभाष्य, पृ० 236
82. नवविध्यकारणवाद की विवेचना के लिये डॉ० देवराजकृति भारतीय दर्शन का  
बारहवों अध्याय द्रष्टव्य है।
83. शब्दार्थप्रत्ययानामिरेतराध्यासात् सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्।  
—योगसूत्र, 3.17

